साधनमाला
मातृ-उपासना
कल्याण-मन्दिर, प्रयाग

साधनमाला-द्वितीय वर्ष—१ मणि

मातृ-उपासना

लेखक

श्री रमाचरण

प्रकाशक

श्रीरमादत्त शुक्ल, बी० ए०

कल्याण-मन्दिर कटरा, प्रयाग

प्रथम संस्करण]   चैत्र पूर्णिमा संवत् २००६   [मूल्य १॥)

विषय-सूची

—:▭:—

❦ * ❦

भाव-निवेदन

'मातृ-उपासना' को विद्वन्मण्डली के सामने उपस्थित करते बड़ा संकोच होता है। सच बात यही है कि भाव-कुसुमों की यह नन्हीं-सी माला तो केवल स्वान्तर्ज्योति-प्रकाशिनी मा के चरणाम्बुजों पर अर्पित करने के लिए उसकी ही प्रेरणा से अकस्मात् ग्रथित हुई थी। अन्तिम दो पुष्पों को छोड़कर शेष सुमन आज से लगभग बीस बरस हुए अपने आप फूटे थे। उनके पीछे कोई संकल्प प्रेरित प्रयत्न बिलकुल न था; थी केवल भावना की लोल लहरी। इसलिए यह हमारी आलमारी के कोने को ही इतने दिनों तक सुशोभित करती रही। अब जो यह संसार के प्रकाश में जा रही है, इसका एकमात्र कारण हमारे श्रद्धेय बन्धुवर 'कुलमौलि' श्री आद्याप्रसादसिंहजी की प्रेरणा, प्रोत्साहन और आदेश ही है।

इसमें एक संतोष भी है। इन भावनाओं की थाती हमारे हाथों से आज उतरकर अधिक सुयोग्य संरक्षण में जा रही है। अब यह हमारी नहीं, मातृ-उपासकों की वस्तु होगी।

मातृ-उपासना का विषय कितना गहन है, यह कहना नहीं होगा। उस पर कलम उठाना और फिर साधकों, विद्वानों और मा के भक्त-प्रवरों के आगे रखना हमारे लिए निरी धृष्टता ही है। यह कहने में कोई संकोच हमको नहीं है कि हमारे पास इसके लिये पूँजी कहलाने योग्य जैसी कोई योग्यता नाममात्र को नहीं है। न शास्त्रों का अध्ययन और न साधन का अनुभव। कतिपय गुरुजनों के चरण-श्री के सान्निध्य और अनुग्रह से श्रद्धा के जो बीज हृदय-क्षेत्र में बचपन में अनायास बोये गये, वे ही श्री रामकृष्ण परमहंस आदि महापुरुषों के

वचनामृतों के परिसिंचन-द्वारा संवर्द्धित होते हुए समय पर इस रूप में प्रस्फुटित हो सके हैं। अतः मेरा नम्र निवेदन है कि पाठकगण न तो इनमें शास्त्रीय विद्वत्ता का चमत्कार ढूँढ़ने की चेष्टा करें और न साधन की प्रत्यक्षानुभूति का परिणाम ही इसमें खोजें। जो इस आशा से इसको पढ़ेंगे, उन्हें निष्फल प्रयास का कोरा परिश्रम ही हाथ आवेगा। यह तो एक अबोध मातृ-उपासक की निजी भावनाओं के कतिपय भाव-सुमनों की छोटी सी माला भर है। जो उसकी प्रकृत कोमलता और सहज सौरभ का आनन्द मात्र लेने के लिए पढ़ेंगे, उन्हें ही इससे कुछ संतोष और मनःप्रसाद मिल सकेगा।

मा के नाम, रूप, भावानुभाव अनन्त हैं और हैं एक-से-एक निगूढ़ और रहस्यपूर्ण। स्वयं वेद को जिसके विषय में "नेति नेति" कहकर मौन होना पड़ा है, वहाँ हमारे जैसे अज्ञ अबोध की कथा ही क्या ! तब भी मा के गुण-कीर्तन से विरत कैसे रहा जाय !

'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई
तदपि कहे बिनु रहा न कोई।'

मा मंगलमयी सबका मंगल करे !!!

प्रकृति निकुंज, मुजफ्फरपुर
महाशिवरात्रि सं० २००५ वि० } —मातृचरणों का 'मधुव्रत'
रमाचरण

परमाराध्या

"परमाराध्या कौन है ?"

इस प्रश्न के उत्तर में शाक्त कहता है—"आद्या-शक्ति वा महामाया परमाराध्या है।"

"वह कौन ?"

"नित्यैव सा जगन्मूर्तिः तया सर्वमिदं ततम्"—वह नित्य और सदा एकरूप रहनेवाली एवं जगन्मूर्त्ति (जगत् ही है जिसकी मूर्ति अथवा बाह्यरूप) है और उसी से यह सब जो कुछ दृश्यमान् है, उत्पन्न हुआ है !

मेधा ऋषि ने राजा सुरथ के इस प्रश्न के उत्तर में कि आप जिसे महामाया कहते हैं, वह देवी कौन है (भगवान् का हि सा देवी महामायेति यां भवान् ब्रवीति······) उसका उपर्युक्तरूप से यह परिचय दिया था। हम भी उसी को दुहरा मात्र सकते हैं। इससे अधिक उसका परिचय देने की सामर्थ्य कौन रखता है ?

वह वही है, जो सब वेदों का वेद्य, देवों का वंद्य और सभी धर्मों का परमुपास्य है।

अर्जुन जिस विराट् रूप को देखकर व्याकुल और भयभीत हुआ था, वह उसकी ही एक झाँकी थी। इसीलिए मेधा ऋषि उसे जगन्मूर्ति कहकर परिचय देते हैं। "जो वैष्णवी शक्ति अनन्त-वीर्य है, वह भी वही है, विश्व का वीज (उद्गम) भी वही है और जो सब चेतन प्राणियों को सम्मोहित कर रही है, वह महामाया भी वही है।"

शाक्त इसीलिए देवों की इस दिव्य स्तुति को सदा हृद्गत किये रहता है कि—

'या देवी सर्वभूतेषु भ्रान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥'

जो देवी भूतमात्र में भ्रान्तिरूप से विराजमान है, उसे बारम्बार प्रणाम है।

शाक्त जिस आदिशक्ति वा महामाया की उपासना करता है, उसके सम्बन्ध में यदि कोई भ्रम हो सकता है तो वह केवल शाब्दिक—तात्विक नहीं, यह बात ऊपर स्पष्ट हो चुकी है। फिर भी भ्रम भ्रम ही है। सहज में उसका निराकरण नहीं होता है। यह भ्रम की खूबी है!

'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' इस वेदान्त-सिद्धान्त के परम सत्य होने पर भी जगत् मिथ्या होकर हवा में उड़ नहीं जाता और परमानन्दरूप ब्रह्म से जीव का अभेद होने पर भी तुलसीदास जैसे भक्त-शिरोमणि को कहना पड़ता है कि—

'व्यापक ब्रह्म ईश अविनाशी, सत चेतन घन आनन्द रासी।
अस प्रभु हृदय रहत अविकारी, सकल जीव जग होंहि दुखारी॥'

ऐसी अमोघ, त्रिकाल-अबाधित मायाशक्ति जिसकी है, उसे महामाया-रूप से वंदन करने में कौन-सा दोष हो सकता है?

स्वयं ब्रह्म की कल्पना ही इसीलिए संभव है कि माया की शक्ति हमारे सामने प्रत्यक्ष है। ब्रह्म से माया भिन्न है, जगत् मिथ्या है—इसे 'इदमित्थम्' रूप में कौन कह सकता है? ब्रह्म की स्वयं-प्रवृत्त शक्ति ही माया नहीं है; जगत् उसके 'एकोऽहं बहु स्याम्' इस सत्य संकल्प का सच्चा विकास नहीं है—यह कौन दावे के साथ कहेगा? वह अनिर्वचनीय है, यह विश्व भी अनिर्वचनीय है—और ससीम मनुष्य के लिए अनादि और निस्सीम है।

विश्व को मिथ्या कहें, प्रकृति को माया वा भ्रमजाल कहें, ब्रह्म को सत्य, निराकार चाहे जो कुछ मानें, यह याद रखने की वस्तु है कि यह सब कुछ 'माया के आवरण से घिरे', मिथ्या जगत् के जीव के भ्रमपूर्ण मस्तिष्क की ही बात है। हम जो कुछ कहेंगे, कहते हैं वा कह सकते हैं, वह वही होगा जो माया के भीतर है—हमारा अनिर्वचनीय भी माया के दायरे के भीतर की वस्तु है। हम इस तरह माया के समुद्र में डूबे हुए हैं। वह माया सार्वदेशिक है, वह भ्रान्ति सर्वकालिक है, जगत् उसके भीतर से निकला है—इसीलिए वह माया नहीं महामाया है और आद्याशक्ति भी।

माया ब्रह्म की शक्ति वा प्रकृति है और है उससे अभिन्न। शक्ति-शक्तिमान् का भेद किया ही नहीं जा सकता। उसे शक्ति कहो वा शक्तिमान्, बात एक ही रहती है। माया कहो वा मायिन् कहो, द्वैत की गुञ्जाइश है ही नहीं।

स्थूल जगत् में जब हम शक्ति से रहित शक्तिमान् की कल्पना नहीं कर सकते तो सूक्ष्म जगत् की क्या बात ? सूक्ष्म जगत् तो शक्तिरूप है ही। जल और उसकी आर्द्रता को कल्पना में हम भले अलग-अलग मानें पर वास्तव में आर्द्रता-रहित जल किसी ने देखा है क्या ? शायद यह सम्भव भी हो पर आत्मा और आत्मा की शक्ति का भेद कौन बता सकता है ? आत्मा यदि स्थूल शरीर से भिन्न कोई अस्तित्व रखती हो तो वह अवश्य ही शक्तिरूप होगा।

परब्रह्म का सबसे सुन्दर, सबसे प्रसिद्ध यह "सत्-चित्-आनन्द" यदि शक्तिरूप नहीं है तो क्या है, कोई बता सकता है ? वह शक्तिरूप है और अपनी शक्तियों का स्वयं नियामक भी है। वह अपनी ही इच्छा से अपनी निस्सीमता को ससीमता के घेरे में लाता है और जिस शक्ति के द्वारा वह ऐसा करता है, वही शक्ति 'माया' है और वह दूसरी आगे पैदा होनेवाली समस्त माया की मूलभूता है इसलिए वह महामाया है और सब शक्तियों की जड़ में वही है। इसीलिये वह आद्याशक्ति भी

कहलाती है। वह स्वयं उससे अभिन्न है, जिसे वह इस प्रकार निस्सीम से ससीम, अद्वैत से द्वैत और निर्गुण से सगुण बनाती-सी प्रतीत होती है।

जितने भी धर्म इस संसार में हैं, सबमें उसी की आराधना होती है, जो इस सृष्टि का कर्ता है। इसलिए सबका ही परमाराध्य वही महामाया वा आद्याशक्ति है, जिसके भीतर से यह सारा विश्व का पसारा फैला है।

अपनी-अपनी रुचि है। कोई उसे शक्तिरूपिणी मानने में सन्तोष मानता है तो किसी को उसे शक्तिमान् कहने में प्रसन्नता होती है। कोई उसे परमाराध्य मानता है तो कोई उसे परमाराध्या मानता है। न तो उसका कोई विशिष्टरूप है और न उसके रूपों की कमी है। वह भक्तों के लिए विष्णु और लक्ष्मी रूप से प्रकट होता है अथवा सीताराम या राधाकृष्ण के लीलावतार धारण करता है तो उधर शिव-शक्ति का अभेद दिखाने के लिए अर्धनारीश्वर रूप से भी लोक-लोक में प्रसिद्ध है।

भक्त की भावना है। उस भावना का ही वह इच्छुक है। इसीलिए वह नाना रूपों में प्रकट होता है, जैसा इस वाक्य में कहा गया है—

'भक्तानामनुग्रहार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना'।

इसी बात को भगवान् कृष्ण ने दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा है—

'यो यथा मां प्रपद्यन्ते तान्स्तथैव भजाम्यहम्'।

उसी 'माम्' की आराधना शाक्त "मा" रूप से करता है। वही उसकी परमाराध्या देवी है।

तुलसीदास ने उसका वंदन 'रामवल्लभा' रूप में इस प्रकार किया है—

'उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥'

यहाँ इतना ही याद रखने को बात है कि राम और रामवल्लभा का भेद हमारे द्वैत-सृष्टि के भीतर की बात है, नहीं तो राम और रामवल्लभा का चिर अभेद है। इसीलिए दूसरी जगह तुलसीदास ने बड़ी मार्मिकता से गाया है—

'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न
वन्दौ सीताराम पद······!'

ये हमारे मस्तिष्क की द्वैत कल्पना की बातें हैं अन्यथा उसका कौन कैसे आकलन कर सकता है—

'विशुद्धा परा चिन्मयी स्वप्रकाशा—
ऽमृतानन्दरूपा जगद्व्यापिका च।
तवेदृग्विधा या निराकारमूर्तिः.
किमस्माभिरन्तर्हृदिध्यायितव्या ?'

मातृ-उपासना

—'त्वमेव माता च पिता त्वमेव'
—'पिताऽहमस्य जगतो
माता-धाता पितामहः'

सब देशों, सब जातियों, सब कालों के लोगों ने संसार को दुःख, क्लेश, नाना जञ्जाल का घर माना है और बराबर से ही इस जञ्जाल से निकल भागने की कोशिश होती आ रही है, तरह-तरह के उपायों की खोज होती ही आ रही है। फलस्वरूप संसार भर में विविध दर्शनों और धर्मों की रचना होती आई है।

इन सब दर्शनों और धर्मों में एक ही भाव अन्तर्निहित जान पड़ता है कि सांसारिक दुःखों का अत्यन्त शमन और परम सुख की ऐकांतिक अनुभूति तभी होगी जब जीव भगवान् को पा लेगा। इसको भिन्न-भिन्न दर्शनों में भिन्न-भिन्न शब्दों में, रूपों में कहा है। आत्म-दर्शन, निर्वाण, मोक्ष, भगवद्-प्राप्ति सबके मूल में एक ही भाव है।

इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये संसार के धर्म भिन्न-भिन्न टेढ़े-सीधे, सुगम और दुर्गम मार्ग बतलाते हैं। सनातन धर्म ने सम्भवतः सभी मार्गों को अपनाया है—ज्ञान, कर्म, उपासना-भक्ति, योग और कर्मकाण्ड सब इसमें बतलाये गये हैं। संसार के अन्य प्रसिद्ध धर्म तीन हैं—बौद्ध, मोहम्मदी और ईसाई। बौद्ध धर्म मूल में कर्मप्रधान है, पीछे से उसमें योग और कर्मकाण्ड का सम्मिश्रण हो गया। मुसलिम धर्म विश्वासपूर्वक कोरान-अनुमोदित विधि-निषेध में ही समाप्त है—इससे उसे एक प्रकार का कर्मकाण्ड कह सकते हैं। ईसाई धर्म भक्ति और उपासना-प्रधान है। हाँ! मुसलिम धर्म में दास्य-भाव की भक्ति की भी झलक अवश्य दीख पड़ती है।

सनातन धर्म में संसार-सागर को तरने के लिये भक्ति और उपासना को राजमार्ग बतलाया है। भक्तिरूपी सहेली का हाथ जिसने एक बार पकड़ लिया, फिर उसके लिये न कहीं भूलने-भटकने का डर है, न राह में अटकने और न ठोकर खाने का। जैसे-तैसे परम-पद पर वह पहुँचकर ही रहेगा। और तो क्या, स्वयं भगवान्, उपास्यदेव, सर्व-शक्तिमान् ईश्वर को बाँध वह भक्त के हाथों में पकड़ा देती है—

भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति-मूल अविद्या नासा॥
(रामचरितमानस)

इसीलिये भगवान् नारद ऋषि कहते हैं कि यह 'स्वयं फलरूपा' है।

ऐसी यह भक्ति है। भक्तिमान् के आगे भगवान् निरा वैज्ञानिक रहस्य वा पहेली नहीं रहता। वहाँ भयजनक कठोर शासक के लिये भी

स्थान नहीं है। वहाँ तर्क वा अनुमान-प्रमाण की आवश्यकता नहीं। भक्त भगवान् का और भगवान् भक्त का हो जाता है। जानना, मानना, पहचानना यह सब भक्ति के पूर्व ही समाप्त हो जाते हैं। 'हममें और भगवान् में सुदूरता है, भिन्नता है भले ही, पर पराया-पन नहीं है। भगवान् हमारे अपने हैं।' यही अपना-पन का सम्बन्ध भक्ति और उपासना की जड़ है। धन, पिता, पुत्र, मित्र वा स्त्री जितने किसी प्राणी के लिये सत्य हैं, प्रिय हैं, भगवान् भी भक्त के लिये तद्वत् ही होता है। इसीलिये भक्तिमार्ग से जो उस चिद् शक्ति को, परमात्मतत्व को अपने हृदय में आकलन करना चाहता है, परम अगम्य दुरूह एवं स्वतन्त्र पुरुष को अपने वशीभूत करना चाहता है, उसे उपासना-मार्ग पर पैर रखने के समय ही उसके साथ अपने हृदयानुकूल सम्बन्ध और भाव स्थिर कर लेने पड़ते हैं। ऐसे लोगों के लिये ही वैधि भक्ति का विधान शास्त्रों में हुआ है। इसे अपरा वा गौणीभक्ति कहते हैं।

जिनके पुण्यपूत हृदय में सुसंस्कारवशतः भगवान् से मिलने की उत्कट अभिलाषा आप-से-आप मौजूद है; जिनके लिये बुद्धि से, मन से, शास्त्रों के आधार से भगवान् का आकलन सन्तोषप्रद नहीं है वरन् उसका प्रत्यक्ष रूप से प्रकट न होना उसी प्रकार विवश, व्याकुल और विरह-कातर करनेवाला है, जिस प्रकार प्रणयिनी के लिये अपने प्रेमपात्र का विछोह; उनकी भक्ति जिस समय अपनी तरुणता को प्राप्त कर उन्हें उन्मत्त और बेसुध बनाती है, उस समय सब नियम, सब निष्ठायें, सब मर्यादायें उन्मत्त के शरीर पर के वस्त्रों की तरह वा साँप के केचुल की तरह आप-से-आप ढीले होकर खिसक पड़ती हैं और उस समय भक्ति का नाम पड़ता है 'पराभक्ति'। पराभक्ति के उदाहरण में प्रायः मधुर भाव के ही भक्तों का—विशेष कर व्रज-वनिताओं का ही उल्लेख हुआ करता है, और सो इसलिये कि संसार में प्रणयिनी और

प्रेमी में जो अत्यन्तासक्ति देखी जाती है, वह दूसरे किसी सम्बन्ध में नहीं मिलती।

भक्ति के आचार्यों ने भक्ति के भावों का वर्णन और विश्लेषण अच्छी तरह से किया है। दास्य, पुत्र, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर ये ही प्रधान भाव रखे गये हैं। नवधा भक्ति का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्॥'

इसमें जो भेद किये गये हैं, वे भक्तिरूपी सोपान के नौ डण्डे वा श्रेणियाँ हैं। इसी को तुलसीदास ने इस प्रकार गिनाया है—

प्रथम भक्ति सन्तन कर सङ्गा, दूसरि रति मम कथा प्रसङ्गा।
गुरु पद पङ्कज सेवा, तिसरी भक्ति अमान॥
चौथि भक्ति मम गुन गन करइ कपट तज गान।
मन्त्रजाप मन दृढ़ विश्वासा, पञ्चम भजन सो वेद प्रकाशा॥
दृढ़ दम शील विरति बहुकर्मा, निरत निरन्तर सज्जन कर्मा।
सातवँ सन मोहिमय जग देखा, मोहि ते अधिक सन्त करि लेखा॥
आठवँ यथालाभ सन्तोषा, सपनहुँ नाहिं देखइ परदोषा।
नवम सरल सब सन छलहीना, मम भरोस हिय हरष न दीना॥

उपासना के भिन्न-भिन्न भाव यावत् धर्मों में जो प्रसिद्ध हैं, उनमें एक तो ईश्वर को पुरुषरूप में ही कल्पित किया गया है। उसके अनन्तर उपासक की बढ़ती हुई भावुकता और अपने उपास्य से अधिकाधिक निकटता के सम्बन्धानुभव के अनुसार एकछत्र शासक, सम्राट्, स्वामी, पिता, सखा, पुत्र एवं पति वा प्रियतम के रूप में उसकी उपासना कथित और प्रचलित है। ईश्वर को स्त्री के रूप में देखने और आकलन करने की सूक्ष्मदर्शिता एक 'वाम' कहलाने-वाले सम्प्रदाय को छोड़कर किसी को न हुई। यह शक्ति-उपासकों

की विशेषता है कि उन्होंने, केवल उन्होंने ही, ईश्वर को सृष्टि के मूलभूत कारण को, परम तत्व को नारीरूप में आकलन किया। वे ही जगज्जननी की महिमामयी मूर्ति साधकों के दिव्य चक्षुओं के सामने ला सके और उसकी उपासना के लिये मातृभाव की उद्भावना कर सके। यह अपूर्व है, भव्य है, हृदय को हिला देनेवाला है और कोमलता, सरलता एवं मधुरता की सीमा है!

परन्तु प्रश्न यह होता है कि इस नूतनता की क्या कोई आवश्यकता भी थी? क्या वे भाव यथेष्ट न थे? क्या उनमें कुछ कमी थी, जिसको इससे पूर्ति होती है? आइये, इन प्रश्नों का विवेचन करें।

उपासना के लिये ईश्वर को एक निश्चित रूप और भाव से देखना अवश्यक है, परन्तु इतने से ही उपासना पूरी नहीं हो जाती। वरञ्च भाव स्थिर करने पर ही उपासना का आरम्भ होता है। उसकी समाप्ति तो तब होती है जब भाव की परिपक्वता में वह सम्बन्ध प्रत्यक्ष हो जाता है और उपास्य और उपासक के बीच जो माया का आवरण है, वह दूर हो जाता है। फलतः उपास्य उपासक की आँखों से ओट कभी होता ही नहीं! भाव-सम्बन्ध स्थिर करते ही उपासक को एक नवीन कर्तव्य-कोटि में पड़ना होता है। उसके लिये भी शास्त्रकारों ने भिन्न-भिन्न आदर्श खड़े कर दिये हैं। इस प्रकार उपासक को तो ईश्वर को अपने भावानुकूल सांचे में ढालना ही पड़ता है, उसे स्वयं भी नवीन आदर्श में ढलकर चौबीस घण्टे व्यवहार करना पड़ता है। उदाहरणार्थ स्वामीभाव को लीजिये। ईश्वर जब स्वामी हुआ तो उपासक को सेवक बनना पड़ेगा। आदर्श सेवकों में हनूमान, भरत, लक्ष्मण, आदि के नाम गिनाये जाते हैं। उपासक को बराबर यह ध्यान रखने की जरूरत है कि उसका जीवन अपने लिये नहीं है, स्त्री-पुत्र, धन, जन, शरीर, कुछ भी उसके लिये नहीं है। संक्षेप में उसे सब सांसारिक मोह-ममताओं से विगत होना पड़ता है। इसके बिना यह भाव सिद्ध नहीं हो

सकता। ऐसा यह भव्य किन्तु दुर्गम दुरूह सेवामार्ग है। इसमें सन्देह नहीं, जिसके हृदय में यह भाव घर कर ले, एकबारगी निर्भय स्वतंत्र और सुखी हो जायगा। पर संसार में फँसे हुए दुःख-सुख के थपेड़ों से घबड़ाये लोगों से यह कहाँ तक निभ सकता है?

ईश्वर को पिता के रूप में देखने में अधिक तरलता और कोमलता है। परन्तु यहाँ भी कर्तव्य-भार बड़ा ही दुर्वह है। पुत्र में सेवक की कर्तव्य-परायणता तो होनी ही चाहिये, साथ-साथ उसमें प्रेम का विशेष पुट होना आवश्यक है। सेवक जहाँ कर्तव्य-पालन के बल से उत्तीर्ण हो जायगा, वहाँ पुत्र को आन्तरिक श्रद्धा और भक्ति भी रखनी चाहिये। सेवक में कर्तव्यता प्रधान है तो पुत्र में श्रद्धा-भक्ति भी उसी दर्जे की चाहिये। ऋषि-पुत्र श्रवण आदर्श पुत्रों में एक हैं। परशुराम भी इस कठोर आदर्श के एक ज्वलन्त उदाहरण हो गये हैं। गुरु-शिष्य-भाव पिता-पुत्र-भाव का दूसरा रूप मात्र है।

सखाभाव कुछ इससे सहज नहीं है। ईश्वर को सखा समझना क्षुद्र मनुष्य के लिये बड़ा ही दुस्तर है। सच पूछा जाय तो यह भाव कोई भी उपासना के आरम्भ में धारण नहीं कर सकता। जन्म-जन्मान्तर की उपासना-भक्ति से जिनको किसी प्रकार, किसी रूप में प्रथमतः उसका सान्निध्य इस भाव में हुआ है, उन्हीं को यह फबता है और उन्हीं में ही यह भाव सत्यता और सार्थकता लाभ करता है। इस भाव में निष्कपट प्रेम तो होना ही चाहिये। यदि हृदय पूर्णरूपेण उसे नहीं दिया जा सके तो सखाभाव होगा ही नहीं।

और मधुर भाव? शैशव का पवित्र हृदय, नवीन स्फूर्ति से फड़कता हुआ लेकर जिस प्रकार एक किशोरी किसी योग्य पात्र को पाकर उसका चिरकाल के लिये वरण करती है और अपना रस-रिस, सुख-दुःख, मान-अपमान सब उसके हाथों में सौंप देती है, उसी प्रकार भगवान् को अपना सर्वस्व जीवनधन प्रियतम जान और मानकर उसके साथ लगन लगा लेना जिन भावुक-शिरोमणियों के लिये

सम्भव हो, वे ही इस पन्थ पर पैर रख सकते हैं दूसरे नहीं। परले दर्जे की हृदयासक्ति, प्रियतम के चरणों में आत्म-निवेदन और आत्म-विस्मृति में ही यह भाव पैदा होता है और इसी में यह परिपूर्णता पाता है।

इस प्रकार यह देखा जायगा कि इन सभी भावों में ईश्वर में विश्वास, दृढ़ सङ्कल्प एवं तन-मन को उसकी सेवा में लगाने की प्रवृत्ति और शक्ति आरम्भ में ही यथेष्ट मात्रा में आवश्यक हैं। परन्तु शत-शत आशा-पाशों से जिनका मन बँधा हुआ है शारीरिक सुख-दुःख, मानापमान आदि द्वन्द्व जिन्हें रात-दिन सताते रहते हैं; जिनके लिये संसार ही सत्य है और सब मिथ्या है; जो संशयात्मा हैं; जिन्हें शास्त्रों में, ऋषि-मुनियों में, यहाँ तक कि कभी-कभी ईश्वर में भी सन्देह हो जाता है; वे उपासना की इन सीढ़ियों में से किसी पर पैर भी रख सकें, यह घुणाक्षर-न्याय से ही सम्भव हो सकता है। क्योंकि जिस मन को उसमें लगाना है, वह कहीं और अटक रहा है। जिस बुद्धि को उसे निश्चयपूर्वक पकड़ रखना है, वह स्वयं संशय में है। और जिस चित्त को उसकी भावना करना है, उसका आदर्श बनना है, स्वयं चञ्चल और मलिन हो रहा है। फिर साधक करे क्या खाक ? उधर उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होती। उसका मन तो अपने ऐहिक विषयों की पूर्ति की चिन्ता में है। उसे सब प्रकार की सेवा, शिक्षा, रक्षा, प्यार और प्रबन्ध स्वयं चाहिये। वह किसी दूसरे के लिये कब कर सकता है ?

इस उलझन को सुलझाने के लिये लोगों ने बड़ा दिमाग लगाया है, बड़ी-बड़ी युक्तियाँ सोचीं हैं, बड़े-बड़े उपाय कहे हैं परन्तु सबने एक स्वर से एक ही अचूक अमोघ रामबाण औषधि बतलाई है—'सत्सङ्ग' सन्त-समागम की कुछ ऐसी ही महिमा है भी। इसीलिये भगवान् नारद ऋषि कहते हैं—

'तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् !'—[ना० भ० सूत्र ४२]

परन्तु उसके पूर्व ही यह क्या कह गये ?—

'महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च'—(३६)

प्राप्त कैसे हो ?

'लभ्यो तेऽपि तत्कृपयैव !'—(४०)

मतलब ? कुछ भी नहीं । भूल-भुलैया की घाटी में जहाँ से चले थे, इतना चक्कर काट कर फिर वहीं आ पहुँचे । कैसे, सो सुनिये । मनुष्य अपने दुःखों की एकान्त शान्ति, परम निवृत्ति के लिये निकला था । उसे बतलाया गया कि यह बिना परमात्म तत्त्व की जीवन्त अनुभूति के बिना हो नहीं सकती और सो केवल भगवत् कृपाधीन है—

'वारि मथे बरु होइ घृत, सिकता ते बरु तेल ।'

अच्छा तो भगवत् कृपोपार्जन ही कर्तव्य वा लक्ष्य हुआ । इसका राजमार्ग—भक्ति-उपासना । पर विषयासक्त मन भगवान् के भजन में लगे कैसे ? बड़ा सहज उपाय है, 'सत्सङ्ग करो, सत्सङ्ग करो !' परन्तु सन्त-समागम कैसे हो ? यह जरा टेढ़ा प्रश्न किया । सन्त-समागम है तो अचूक फल देनेवाला पर दुर्लभ है, अगम्य है । तो ? कुछ नहीं, बस उसकी कृपा हुई नहीं कि सत्संग आप-से-आप मिल गया । परम पिता की कृपा होने पर सब साधन आप सुलभ हो जाते हैं ! ठीक, पर यह कह क्या गये ? जिस भगवत्-कृपा के उपार्जन का मार्ग ढूढ़ने चले थे, उसी पर सब अटका छोड़ा तो सिद्ध क्या हुआ, नतीजा क्या निकला ?

भगवान् कृष्ण ने गीता में बड़ी रियायत, बड़ी उदारता से काम लिया है—'अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् इत्यादि ।' परन्तु यह बात समझ में आती कहाँ है ! प्राणी सदाचारी और दुराचारी बनता है मन से । अब जिसका मन आपके भजन में

अनन्य रूप से लगे, वह दुराचारी न रहकर साधु और धर्मात्मा बना तो इसमें क्या आश्चर्यघटना हुई? अच्छा, और यह जो फिर उन्होंने कहा है कि 'स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात्' ? बेशक, परन्तु जो धर्म का स्वल्पातिस्वल्प भी चिन्तन नहीं करता, उसका इससे कुछ उपकार होनेवाला नहीं है।

बेचारे तुलसीदास भी इसी उलझन में पड़े-पड़े अपने पदों में यही उलटा-सीधा ताना-बाना बुन गये हैं—

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई, कोटि भांति कोउ करइ उपाई।
तथा मोच्छसुख सुनु खगराई, रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥
भगति सुतन्त्र सकल गुनखानी, बिनु सतसङ्ग न पावहिं प्रानी।
सतसङ्गति संसृतिकर अन्ता, पुन्य पुंज बिन मिलहिं न सन्ता॥
बिन सत सङ्ग विवेक न होई, रामकृपा बिन सुलभ न सोई।

इसलिये अन्त में यह उद्गार मुख से बरबस निकल पड़ा—

विषय बारि मन मीन भिन्न नहीं होत कबहुँ पल एक।
तेहितें सहौं विपति अति दुख जनमत जोनि अनेक॥
कृपा डोरि बन्सी पद अंकुश परम प्रेम मृदु चारो।
एहि बिधि बोधि हरौ मेरो दुख कौतुक होय तिहारो॥
हैं स्तुति विदित उपाय सकल सुर कोई कोई दीन निहारो।
तुलसीदास यहि जीव मोह रजु जोइ बांध्यो सोइ छोरै॥

अस्तु! ईश्वरानुग्रह के बिना भक्ति का, फलतः भाव सम्बन्ध का, उदय नहीं होता। उधर सब भावों की परिसमाप्ति आत्म-निवेदन अर्थात् ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सबसे निरास हो उसके चरणों पर अपना सब कुछ यहाँ तक कि अपना अहंकार भी अर्पण कर देने में है। दोनों अवस्थाएँ निराश्रय की हैं। एक जगह पुरुषार्थ के अत्यन्ताभाव के कारण और दूसरी जगह भक्ति एवं हृदयासक्ति की अत्यन्त प्रबलता के

कारण। पर अन्त में दोनों एक ही अवस्था पर पहुँचते हैं। इस तरह नवीन साधक के लिये ये सब भाव दुःसाध्य एवं कृत्रिम-से दीखने लगते हैं! ये जितने भी भाव या सम्बन्ध हैं, उन्हें चाहे तो साधक स्वयं अपनी इच्छानुसार ग्रहण करता है अथवा गुरु निश्चित कर देते हैं। यह एक सुन्दर सरस हृदयग्राही कल्पना है पर है अपने मन से जोड़ लेने ही की बात। और संसार में ये सब संबन्ध ऐसे ही देखे जाते हैं। स्वामी, सखा, मित्र, प्रियतमादि के संबन्ध मानने पर निर्भर करते हैं। ये संबन्ध जोड़ने से ही जुटते हैं।

परन्तु संसार में एक ऐसा भी सम्बन्ध है, जो किसी प्रकार का जोड़ना-तोड़ना जानना-मानना नहीं जानता। वह स्वतः सिद्ध है, स्वतः प्रमाण है। वह है माता और सन्तान का सम्बन्ध। यह सम्बन्ध इस बात की अपेक्षा नहीं रखता कि सन्तान अपनी माता को जाने और माने। किस शिशु को इस बात का ज्ञान होता है कि माता ऐसी कोई वस्तु भी है? माता कब इस बात की राह देखती है कि बच्चा मुझे माता समझे और मा-मा कह सम्बोधन करे तो मैं उसे स्तन-पान कराऊँ? मातृ-सम्बन्ध के आगे संसार के सब सम्बन्ध कृत्रिम हैं। मातृ-भाव से बढ़कर सहज स्वभाव-सुलभ एवं मौलिक दूसरा भाव ही मानव-हृदय में असम्भव है।

जगज्जननी और उसकी सन्तान (प्राणी मात्र) का सम्बन्ध जैसा कुछ दिव्य है, इसका कुछ आभास प्रकृत माता और उसकी सन्तति के सम्बन्ध में मिलता है। इस मर्त्यलोक में ही—जहाँ कुछ भी नित्य और स्थायी नहीं है, जहाँ सच्चा प्रेम और निःस्वार्थ हितकामना दुर्लभ है, जहाँ निश्छलता और निष्कपटतापूर्ण बन्धुत्व की आशा रखना बुद्धि की निरी विडम्बना है, वहाँ 'माता'—एक 'माता' अपने पुनीत अस्तित्व से ही इस धरातल के इन सारे कलंकों को दूर कर देती है—तब उस जगज्जननी के प्रेम, पुत्र-वात्सल्य और स्थायी सम्बन्ध की कौन पूर्णरूपेण कल्पना वा उसका वर्णन कर सकता है!

इस असार संसार में भी माता पुत्र को अपना शरीर अपना जीवन, अपनी आत्मा देकर उत्पन्न करती है। अनन्तर उसे वह अपना जीवन-रस देकर संवर्द्धित करती है। उस समय उस सन्तान को क्या ज्ञान होता है कि माता भी है और उसे जानना और मानना चाहिए? बच्चा तो अपने शरीर की वेदनाओं से प्रेरित होना मात्र जानता है। भूख लगने से रोता है, रुग्ण होने पर मलिन होता है, सुखी होने पर हँसता है और माता यह सब देखती है और उसके कल्याण के लिये सब कुछ करती रहती है। बच्चा जैसे जैसे होश सँभालता है, माता स्वयं उसे सब कुछ सिखलाती है— यहाँ तक कि 'मैं तुम्हारी मा हूँ' यह भी स्वयं ही उसे बतलाती है। वह उसे बराबर कल्याण-मार्ग पर चलाती है, बुद्धि विकसित करती है, बलशाली बनाती है और अपने ही समान अपनी सारी शक्ति से युक्त बनाकर उसे संसार के उपयुक्त कर देती है। किसलिये? अपने प्रति कुछ कर्तव्य की पूर्ति के लिये? अपना यशोगान करवाने के लिए? नहीं, कुछ नहीं। केवल इसलिए कि वह उसकी प्रतिमूर्ति, सच्ची प्रतिमूर्ति बनकर एक स्वतन्त्र सृष्टिकार बन जाय।

जगज्जननी भी यही करती है। अपने अंश से जीव को प्रकट करती है। माता की तरह सब प्रकार उसकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं का नित्य योग-क्षेम करती रहती है। संसार-सागर में पड़ा उसका पुत्र जिस समय अज्ञान और मोह के वश हिताहित को नहीं जान पाता और मृगतृष्णा के पीछे दौड़ने में ही परम पुरुषार्थ मानता है; जिस समय विषय-वारुणी पीकर वह उन्मत्तवत् होकर वेद-पुराण, आगम-निगम, ऋषिदेवता किसी की ओर आँख उठाकर देखना नहीं चाहता और केवल क्षणिक सुख-चैन के लिये व्यग्र हो मारा-मारा फिरता है और इसके क्षणिक अभाव में केवल आर्त्तनाद कर चिल्ला उठता है, उस समय उसके हृदय में धीरे-धीरे मोक्ष, परम शान्ति एवं ऐकान्तिक सुख की खोज का वीज वह बो देती है और तब उसे सोते-जागते, रोते-हँसते, खाते-खेलते सब समयों में वह धीरे-धीरे

किन्तु निश्चयपूर्वक उसकी इच्छा के विरुद्ध भी परम कल्याण पथ पर उँगली पकड़-पकड़कर चलने का अभ्यास करा देती है। इस अज्ञानावस्था में भी वह माता है और हम उसकी सन्तान हैं। वह स्वयं इस सम्बन्ध का ज्ञान भी करा देगी। हम उसकी सन्तान हैं, वह हमारी माता है, इस ज्ञान के हो जाने पर उस सम्बन्ध में, उसके व्यवहार में कोई भेद नहीं होता है—भेद होता है हमारे लिए। हमारी मा हमारे पास खड़ी स्वयं हमको परम पद पर ले जाने को तैयार है, इस ज्ञान से एक अपूर्व आनन्द, अत्यन्त निर्भरता एवं अनुपम प्रेम-प्रवाह का संचार भक्त के मन में होने लगता है। उसे तत्काल परम शान्ति का अनुभव होने लगता है क्योंकि वह देखता है कि जिसने मुझे उत्पन्न किया, परिपालित और संवर्द्धित किया, अकल्याण के मार्ग से हटाकर जिसने मुझे बलात् कल्याण-मार्ग पर लगाया है और यह सब तब जब मैं उसके अस्तित्व को भी स्वीकार करने को तैयार नहीं था तथा जिसने स्वयं पुचकार-पुचकार कर मुझे मा कहना सिखलाया है, वह जब मेरे सिर पर हाथ रखे खड़ी है तब मुझे चिन्ता किस बात की हो सकती है। संसार-सागर के नाना विषय-जन्तु जब उसे पीड़ित करते हैं तो वह अब भी रो उठता है परन्तु अब माता की ओर आँखें उठाकर रोता है और माता, करुणा-मयी जगद्धात्री तत्काल उसे गोद में ले उसको सान्त्वना देकर शान्त कर देती है। भक्ति की अन्तिम दशा आत्म-निवेदनवाली यहाँ आप-से-आप उत्पन्न हो जाती है। क्योंकि यहाँ तो यह भाव ही है कि—

'न मंत्रं नो यंत्रं तदपि च न जाने स्तुतिमहो।
न चाह्वानं ध्यानं तदपि च न जाने स्तुतिकथा॥
न जाने मुद्रास्ते तदपि च न जाने विलपनं।
परं जाने मातस्त्वदनुशरणं क्लेशहरणम्॥'

अथवा—

'नैतच्छठत्वं मम भाव एतत्क्षधातृषार्ता जननी स्मरन्ति।'

अथवा यह भी बहुत है, जीवरूपी शिशु की तो यह भावना है कि 'मा', यदि तुम सत्यतः हो और हम तुम्हारी सन्तान वस्तुतः हैं तो फिर तो तुम इस बात को स्वयं ही प्रत्यक्ष क्यों नहीं कर देतीं ? तुम्हीं आप क्यों नहीं सम्भालतीं ? हमसे तो ज्ञान, कर्म, भक्तियोग कुछ भी न होगा—यदि यह सब कराना ही हो तो बुद्धि, मन, शरीर सब कुछ तुम्हारे अधीन है, उनसे करा लो—पर हम तो एक भी कष्ट सहने को तत्पर नहीं हैं। क्योंकि तुम्हें किस बात की कमी है, जो हम लोगों को कष्ट सहना पड़े ? तुमने जैसा बनाया है, वैसे हम हैं और जैसा बनाओगी वैसे ही होंगे !'

—: × :—

जगन्मयी का रूप

"खड्गिनी शूलिनी घोरा गदिनी चक्रिणी तथा—
शंखिनी चापिनी बाणभुशुंडिपरिघायुता ॥"

* * * *

"सौम्या सौम्यतराशेषसौम्यस्त्वतिसुन्दरी ।
परापराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी ॥"

सृष्टि की उत्पत्ति-पालन-विनाशकर्त्री शक्ति की मातृ-रूप में कल्पना मानव हृदय की भावुकता एवं उसके मस्तिष्क की उद्भावना का सबसे सुन्दर, मधुर और स्वाभाविक नमूना है, इसमें संदेह नहीं। जिसके गर्भ से हम निकले हैं, जिसके दिये हुए अमृत-रस का आस्वादनकर आनन्द और जीवन-लाभ करते हैं और चौबीस घंटे जिसकी गोद में क्रीड़ा करते हैं—कभी उतरने का नाम नहीं लेते, उसको 'मा' कहकर पुकारने से बढ़कर और क्या सहज एवं मर्मस्पर्शी हो सकता है ? वह

आदिशक्ति माता है, हम उसके बच्चे हैं—वह जगज्जननी है, जगन्मयी है, जगदानन्दकारिणी है ! शाक्त इसी भाव का, इसी रूप का, इसी रंग का भूखा है और यह शाक्त-धर्म की विशेषता एवं असाधारणता है। इसीलिए संसार इस सहज, मधुर, पुनीत किन्तु अपूर्व भावना के मस्ताने को कहता है—'वामी !'

उस चिच्छक्ति को कठोर निरंकुश शासक बनानेवाले 'वामी' नहीं हैं, न दुनिया के सारे-के-सारे वे मतवाले 'वामी' हैं, जो उसे मनमाने साँचे में ढालकर उसका जैसा-तैसा रूप ढालते हैं। खैर, हुआ क्या ?—

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने॥"

जो सबके लिए उजेला है, वह अन्तर्द्रष्टा के लिये अँधेरी रात-सा है और जिस उज्ज्वल प्रकाश में संयमी साधक सदा सजग रहता है, वह दुनिया के लिए गहरा अन्धकार है। ऐसा भगवान् कृष्ण का वचन है। इसीलिए मा संसार की नजर में अतुलनीय कालिमामयी है न ?

'शाक्त', 'वामी', 'कौल' तो जगज्जननी का उपासक है, माता का पुजारी है। वह माता ऐसी-वैसी नहीं है। वह है त्रैलोक्यजननी, विश्वम्भरी, कृपा-सागरा और सच्चिदानन्दरूपिणी। वह है कृपार्द्रनयना, भक्त-वत्सला और पुत्र-रूपीवत्स के लिए अमृत-रस-दायिनी कामदुहा। वह एक ओर अपने संसारसागर में डूबते हुए पुत्रों को 'मा भैः मा भैः' की अमोघ वाणी से उत्साहित करती है तो दूसरी ओर वर-प्रदान के लिए सर्वदा उन्मुक्त-हस्त खड़ी रहती है। इसीलिए उसका नाम है जगत्तारिणी। उसके वीर पुत्रों के लिए यह उक्ति प्रसिद्ध हो गई है कि भोग और मोक्ष उनकी मुट्ठी में रखे हुए से रहते हैं—

'श्रीसुन्दरी-पूजनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।'

ऐसी जगज्जननी करुणा-वरुणालया का रूप अवश्य ही सुन्दरता, कोमलता, मधुरता और पुनीतता की परिसीमा होगा और शाक्त कहता है कि निस्सन्देह ऐसा है भी। परन्तु यह क्या? उसके उपास्य का रूप 'काली', 'तारा', 'दुर्गा', 'चण्डी', भीमा—एक-से-एक भयंकर निष्ठुर और अशिव-भेषयुक्त क्यों? गले में मुण्डमाला, हाथों में खड्ग, खप्पर, छिन्न-मुण्ड तथा रहने को श्मशान भूमि—यही क्या जगज्जननी का वेश हो सकता है? कभी नहीं। यह तमोगुणी प्रकृति के कठोर-वृत्ति साधकों की क्रूर कल्पना है! जगज्जननी का रूप क्या कभी निष्ठुर भावापन्न हो सकता है? असम्भव। पुत्र-वत्सला भयंकरी कैसे होगी? भला यह ध्यान—

'महाघोरकालाऽनलज्वालजाला, परित्यक्तवासा महाट्टाट्टहासा।
जटाभारकाला महामुण्डमाला, विशाला त्वमीदृग् मया ध्याय-
सेऽम्ब॥'

अब प्रश्न यह है कि मातृ-भाव की अनुपम, स्वाभाविक और मधुर उपासना की जिन महानुभावों ने कल्पना की, क्या वे अपने परमोपास्य के उतने ही सुन्दर सौम्य नयनाभिराम मनोमोहक रूप और छवि की झाँकी नहीं पा सकते थे? नहीं, ऐसी बात नहीं है। यह प्रश्न ही असंगत है। वास्तव में कठोर, अशिव और भयंकर की मातृ-रूप में उपासना हो ही नहीं सकती—दोनों भाव एक-दूसरे के बाधक एवं विपरीत हैं। उसके सौन्दर्य का क्या ठिकाना है—वह तो सौन्दर्यमूला है, आनन्दलहरी है। 'सत्यं शिवं सुन्दरं' को सत्यता, शिवता और सुन्दरता देनेवाली वह है। अन्यथा उसके बिना 'शिव में रह जायगी केवल 'शव'—ता!'

आदिशक्ति महामाया के जितने रूप शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं, वे दो कोटियों में रखे जा सकते हैं। यहाँ उन्हें अभी मधुर और उग्र के नाम से कहा जायगा। मधुर रूप जैसे लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती, सीता एवं

राधा आदि। उग्र में तो प्रायः काली, तारा, भैरवी, भुवनेश्वरी, दुर्गा आदि प्रसिद्ध ही हैं। त्रिपुरसुन्दरी वा षोडशी का रूप दिव्य सौन्दर्य और माधुर्य की परिसीमा होने पर भी उग्रता-युक्त है; उसमें कोमलता और लावण्य का प्राधान्य नहीं हो सकता है। मातृ-उपासना के मस्तानों ने मधुर रूपों को गौण स्थान दिया है और उग्र रूपों की भक्ति-भावना में अपने को मिटा दिया है—यह बड़ा विचित्र है। पर इसमें एक रहस्य है।

परन्तु इस रहस्य की चर्चा करने के पहले इन दो प्रकार के रूपों के अवतार-क्रम पर दृष्टि डालनी होगी। दोनों ही प्रकार के रूप उसी आदिशक्ति, सच्चिदानन्दरूपा महामाया के हैं। दोनों ही उसकी विभूतियों के उत्कृष्टतम प्रकाश हैं। दोनों के भीतर एक उसी मा की झाँकी मिलती है। दोनों ही उसी अनादि आद्या के 'निज इच्छा-निर्मित तनु' हैं। परन्तु दोनों के आविर्भाव-क्रम में भेद है। लक्ष्मी, सरस्वती एवं पार्वती त्रिदेवों की शक्तियाँ हैं। उनका आविर्भाव उन त्रिदेवों को कर्तृत्व-प्रदानार्थ हुआ है। यही बात सीता एवं राधा के अवतारों के लिये भी ठीक है। भगवान् राम एवं कृष्ण की लीला को सर्वांगीणता देने के लिये ही उनका आविर्भाव हुआ था। सांख्य के शब्दों में कहना चाहें तो इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रकृति ने पुरुष के आनन्द के लिये अपनी लीला का विस्तार किया था अथवा पुरुष को अपनी इच्छानुकूल लीला करने का अवसर देने के लिये अपना भंडार खोलकर उसके सहायतार्थ आप भी आ खड़ी हुई थी। इसे ही अधिक सीधी निरलंकारिक भाषा में इस प्रकार कहा जायगा—पुरुष, महापुरुष वा पुरुषोत्तम की इच्छा हुई संसार में आने की, वहाँ जाकर ससारानुकूल लीला का आनन्द बढ़ाने की, अतएव उसने सर्वशक्तियों की अधिष्ठात्री महामाया का स्मरण किया। उसका सहायता के लिये आह्वान किया। इस आह्वान को सुनकर उसको पूरा करने के लिये उसने यथावत् अपनी लीला का विस्तार किया।

परन्तु इश्वर की बात दूसरी है। आर्त पुत्रों ने पुकारा 'मा! दौड़ो, रक्षा करो!' और वह उनके आगे तत्काल आ खड़ी हुई। किस हेतु? अपनी इच्छानुसार लीला करने के लिये? नहीं—पुत्रों की रक्षा के लिये, उनका पालन-पोषण करने के लिये! और यह कार्य सम्पन्न कर पुत्रों को फिर 'मा भैः' का अभयमन्त्र सुनाती हुई चली गई। पहले में महामाया के अवतार का कारण हुआ है सृष्टि-लीला-विस्तारहेतु पुरुष की इच्छा। दूसरे का कारण है सृष्टिजाल के कठोर बन्धनों से उत्पीड़ित निस्सहाय आत्माओं की निस्तार-कामना। फलतः भवव्याधि से छूटने की इच्छा रखनेवाले उपासकों ने दूसरी श्रेणी के रूपों में ही अपनी इच्छा को फलवती करनेवाली नखसिख सर्वांगीण मातृमूर्ति का दर्शन पाया। यह सहज ही देखा जा सकता है कि इन 'मधुर' और 'उग्र' रूपों में क्या भेद है। मधुर रूप पुरुष की लीला-प्रियताजनित है। उग्र रूप पुरुष को भव-भय से विमुक्त होने की आकांक्षा-जनित है। पहला पुरुष की 'एकोहं बहुस्याम' भावना का फल है; दूसरा 'नेह नानास्ति किंचन' की भावना में पुनः आत्मस्थ होने की इच्छा का। एक संसार-लीला-विस्तारार्थ है; दूसरा संसार-लीला-संवरणार्थ।

अब शाक्त और बातों में वाम भले ही ठहरे पर उसने इस उद्देश्य को जरा भी क्षीण होने नहीं दिया कि 'मुझे चाहिये संसृति-जाल का छेदन, संसार-लीला का संवरण!' और तदनुकूल उसने महामाया के रूपों में से उग्र कहे जानेवाले रूपों को अपने लिये चुन लिया।

अब उस रहस्य की बात। 'माता' क्या वस्तु है? नारी जाति में मातायें होती हैं पर नारी और माता एक वस्तु नहीं हैं, यह बात तो सहज ही देखी जा सकती है। तात्पर्य यह कि कतिपय विशेषताओं से युक्त नारी माता है। साधारण व्यवहारानुसार सन्तानवती नारी के लिये 'माता' शब्द का प्रयोग होता है। परन्तु सन्तान-प्रसव की शारीरिक क्रिया मात्र से ही नारी माता बन जाती है, यह बात नहीं। क्योंकि

यदि ऐसा होता तो एक बार मातृत्व ग्रहण करने पर वह हर काल, हर दशा और हर देश में माता ही रहती। परन्तु प्रकृत जगत् में हम यह नहीं पाते हैं। नारी अपनी सन्तति के प्रति ही माता है। यह प्रकृत नारी की सहज सीमा है। इस ओर ध्यान देने से यह बात झलक उठेगी कि नारी माता नहीं बन जाती। विशेष अवस्था में उसमें कतिपय गुणों का आविर्भाव होता है, जिसके सहारे उसकी सन्तान उस नारी में मातृमूर्ति देख पाती है नारी-मूर्ति नहीं। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि मातृ-भावना नारी-भावना का परिवर्द्धित रूप नहीं है, वरन् एक ही शरीर में जहाँ नारी-भावना थी, उसका तात्कालिक निवारण कर मातृ-भावना का आरोप होता है। फलतः साधारण नारी माता के पुनीत गौरवमय पद पर आरूढ़ हो पाती है। अथवा यों कहें कि जिस समय एक स्त्री अपने को इस रूप में रख पाती है कि उसकी ओर आँखें उठाकर देखनेवाला उसमें नारीरूप को नहीं देख पाता है वरन् मातृमूर्ति की झाँकी पाता है, उस समय वह स्त्री 'माता' के नाम से सम्बोधित होती है। माता तभी तक माता है जब तक वह अपनी सन्तति में दृष्टि-नियंत्रण की यह शक्ति रखती है।

जीव वा पुरुष भावनामय है। दैव और आसुर भावनायें दोनों ही यथेष्ट मात्रा में जीव के आन्तर शरीर में मौजूद हैं। दोनों ही उसके अङ्ग हैं। यदि किसी मनुष्य के रोग-ग्रस्त अङ्ग को काट डाला जाय तो यह उस मनुष्य का अङ्ग-भङ्ग ही कहा जायगा। इसी प्रकार मनुष्य का सूक्ष्मतर रूप भावनामय होने के कारण यदि उसकी किसी वृत्ति का लोप हो जाय तो यह उसके अङ्ग-भङ्ग के बराबर ही होगा। किसी आन्तरिक वृत्ति का नाश भी एक संहारक्रिया ही है, इसमें सन्देह नहीं।

जिस समय कोई स्त्री किसी प्राणी के सामने मातृ-रूप में प्रकट होती है, उस समय वह सहज रूप से ही उस व्यक्ति के हृदय से आसुर वृत्तियों का विलोप कर देती है, उसके चर्म-चक्षु सर्वांगीण नारीरूप

को देखते हुये भी नारी-रूप का चित्र हृदयपट पर उतारने की शक्ति खो देते हैं। वह दैव-आसुर वृत्तियोंवाला व्यक्ति विकलांग हो जाता है, एकांगी बन जाता है। यही है माता की सहज संहार-शक्ति और यही है मातृत्व का मूल-रहस्य। मातृरूप के दर्शनाभिलाषी व्यक्ति को पहले माता के इस संहाररूप का ही साक्षात् होता है क्योंकि जब तक माता की यह सहज संहार-शक्ति उन पर अपना सफल प्रहार नहीं कर लेती तब तक माता का दर्शन असम्भव है।

जगज्जननी के रूप का आकलन और दर्शन जीव को तभी होता है जब उसके अन्तर की आसुर वृत्तियों का नितान्त संहार हो जाता है। संसार में हम विषयभोग भोगने के लिये आये हैं, ऐसी भोगवृत्ति का जब तक पूरा-का-पूरा संहार नहीं हो जाता तब तक माता के दर्शन हो नहीं सकते। न केवल इतना ही; उसके दर्शन के साथ-साथ उसके अपने क्षुद्र अहंकार तक का नाश हो जाता है।

दैव-आसुर प्रकृति-संभव साधक बड़ी साध से माता का आह्वान करता है इस आशा से कि माता चिरन्तन सुख, शान्ति और आनन्द का साम्राज्य हमें ला देगी! माता पुत्र की दुःख-कातर पुकार को सुनकर दौड़ती है—दौड़कर एकदम पुत्र को गले लगा लेना चाहती है। ठीक ऐसे समय एक विचित्र घटनो घटती है। साधक घबड़ा उठता है, भय से अकल्पित व्यापार से काँप उठता है। यह क्या? उसके अङ्ग, उसकी चिर-पालित वृत्तियाँ, उसकी सुख-भावना, जो कुछ उसके जीवन प्राण थे, सबके सब एक बार ही नष्ट-भ्रष्ट होने लगे! और यह किया किसने? आह, जिसे उसने मा कहकर बुलाया था, उसने! माता पुत्र का अङ्गभङ्ग करने लगी—मा करुणामयी नहीं, भीमा भयंकरी हो गई!! कुछ एक क्षण वह अबोध साधक मुग्धवत् पड़ा रहता है किन्तु जैसे ही यह संहार-क्रिया समाप्त होती है, उसकी आँखें खुल जाती हैं। उसके आनन्द का ठिकाना नहीं रहता। माता की मधुर मूर्ति मन्द-मन्द मुसकाती हुई उसे गोद में उठा लेती है। उस

समय जब उसे उस भयंकर रूप का रहस्य समझ में आता है तो वह हठात् बोल उठता है, 'मा ! मुझे तो वही संहाररूप प्रिय है, जिसने मुझे तुम्हारी 'सन्तान' बनाया—मैं तो तुम्हारे उसी रूप की जन्म-जन्मान्तर तक पूजा करूँगा ।'

भक्त के लिये करालवदना काली भीमा भयदायिनी नहीं है, अभयवरद-हस्ता, करुणारुण-लोचना, भक्त-वत्सला मा, अपनी मा है । उसकी भीषण-रण-सज्जा तो उसके पुत्रों की रक्षा के ही हेतु है । फिर भला वे उससे क्यों घबड़ाने लगे ? वह भीम-रूप वह रण-सज्जा तो उन्हें इसीलिये और भी प्रियतर है । वह तो देवताओं के स्वर-में-स्वर मिलाकर कहता है—

असुरासृग्वसापंकचर्चितस्ते करोज्ज्वलः ।
शुभाय खड्गो भवतु चण्डिके त्वां नता वयम् ॥

हे चण्डिके ! हम लोग तुम्हारे चरणपङ्कजों में सतत प्रणाम करते हैं । असुरों के रक्त एवं वसा से चर्चित तुम्हारा यह खड्ग हमारे लिये शुभदायक हो !

माता का वात्सल्य

—'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ।'
—'अपराध भवत्येव तनयस्य पदे पदे ।
कोऽपरः क्षमते लोके केवलं मातरं विना ॥'

'यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' यह सिद्धान्त लोकप्रसिद्ध है । जो एक में है, वही अनेक में है । श्रुति-पुराण, तर्क और विज्ञान, अनुभव-

अनुमान सब इसकी सचाई का साक्ष्य देते हैं। मूला प्रकृति और उसकी सृष्टि के पसारे में जीव और शिव में जो संबन्ध है, उसको छोटे स्वरूप में हम मानव जीवन में प्रकट हुआ पाते हैं। माता और उसकी संतति में हम उसी एक क्रिया का रूपान्तरित भाव देखते हैं। दोनों जगह एक ही सिद्धान्त काम करता है। भेद केवल स्थान और पात्र का है। एक असीम है दूसरा निःसीम। एक दिशा, काल, स्वभाव के बन्धनों से बँधा है। दूसरे में ये तीनों अपने को नियमित, नियंत्रित और बँधा पाते हैं। एक के लिये जो अनादि अनन्त है, वही दूसरे के गर्भ में अपना आदि और अन्त दोनों पाता है।

जीवात्मा और परमात्मा की दृष्टि से देखिये, प्रकृति और उसकी प्रजा मानिये, ईश्वर और उसकी सृष्टि कहिये, बात एक ही है। वह जो परम तत्व है, उसने अपने एकत्व में अनेक की आकांक्षा की और यह सब चराचर प्राणी मात्र उसके गर्भ से निकल आये। यहाँ यह प्रश्न उठाना अप्रासङ्गिक होगा कि सृष्टि के विस्तार की यह क्रिया क्रम-विकासानुसार हुई अथवा जैसा हम इसे आज देखते हैं, वैसा ही आदि से ही है। जो भी हो, यहाँ मतलब इतने से ही है और इस पर ईश्वर-वादी, निरीश्वर एवं प्रकृतिवादी सबके सब एकमत हैं कि एक निरव-च्छिन्न मूलभूत तत्व से यह अनेकत्व प्रकट हुआ है। उसके बाद भी, यदि हम बाह्य जगत् के विकास वा उन्नति-क्रम को देखें अथवा प्रत्येक प्राणी के अन्तर में चलनेवाले द्वन्द्व और फलतः उसमें होनेवाली प्रगति का निरीक्षण करें तो यह मानना पड़ेगा कि जिस मूला प्रकृति ने हमें प्रकट किया है, वही, स्वयं वही, हमको इस उन्नति-पथ पर ले जा रही है। जिस शक्ति ने वीज की रचना की है, वही उसमें अंकुर उगाती फिर उसे धरती में जड़ें फैलाकर रस लेना और उन्मुक्त गगन में सिर उठा धूप, हवा, वर्षा और शीत का आलिङ्गन करना सिखाती है एवं अन्त में उसको परिणति की अवस्था में लाकर फूल, फल एवं वीज—अपने ही समान वृक्ष,

को गर्भ में धारण करनेवाला वीज—उसके कठोर, रूखे कुत्सित, कदाचित् कंटकाकीर्ण टहनियों में फोड़-फोड़-कर निकालती है ! यही क्रिया प्राणी मात्र में, स्वयं बुद्धिशाली मनुष्य में भी है। 'अहं' के लिये स्थान ही नहीं है। अहं-भाव, मैं-पन द्वैतवादियों की दृष्टि में भारी पाप है; अद्वैतवादियों के मत से मिथ्या मोह थोथा भ्रम है और प्रकृति वा पदार्थवादियों के अनुसार भौतिक पदार्थों की संयोगवियोगात्मक क्रिया में प्रकट होनेवाली उफान वा सड़न है। इस प्रकार किसी दृष्टि से भी पाँच-भौतिक शरीराभिमानी जीव अपनी कोई स्थिति नहीं रखता। तब आदिशक्ति से क्षण क्षण में जो उसे विद्युत् शक्ति मिल रही है, उसके अतिरिक्त वह किस बल पर बलशाली बन सकेगा ? स्वयं उस आदिशक्ति का परिचय पाने का बल यदि वह आप ही न दे तो मनुष्य बिचारा किस यन्त्र पर गढ़ कर अपनी बुद्धि को प्रखर करे और उसका आकलन करे। इसीलिये कहते हैं—

'सोई जाने जेहि देहु जनाई।'

इस लीला का जिस समय कोई महामना अन्तर्द्रष्टा सहृदय भावुकता की आँखों से निरीक्षण करता है तो उसे वह आदि-शक्ति माता के रूप में खड़ी जान पड़ती है और तत्क्षण ही अपने को वह बालक के रूप में अनुभव करने लगता है। मातृभाव का उदय हो आता है। प्रकृत सम्बन्ध सजीव भाव में बदल जाता है। अकृत्रिम, अलौकिक और अकल्पित आनन्द का स्वादु मिलने लगता है।

ठीक यही दशा इस लोक में भी माता और उसकी सन्तान में होती है। "एकोऽहं बहुस्याम" की भावना सन्तति-सुख और वात्सल्य-रस के आस्वादन की कामना के रूप में नारी-हृदय को जिस प्रकार जकड़ती है, वह एक रहस्य है। पुरुष-हृदय में भी पुत्र-कामना होती है। परन्तु वह कामना खरी वा बे-मेल बहुत कम देखी गई है। उस कामना की तह में अन्यान्य भावनायें छिपी रहती हैं। परन्तु नारी हृदय

में सन्तान-कामना बिलकुल सहज रूप में उदय होती है। अनन्तर अपने शरीर के सार भाग का दान देकर वह सन्तान को संसार में लाती है, फिर उसका पालन-पोषण करती है, उङ्गली पकड़-पकड़कर चलना-फिरना सिखाती है, अक्षर-अक्षर जोड़कर बोलना सिखाती है, संक्षेप में उसे अपना ही प्रतिरूप बनाकर छोड़ती है, केवल इस कार्य के स्वाभाविक आनन्द के वश, किसी स्वार्थ की सिद्धि के लिये नहीं! वहाँ त्याग करने की भी भावना नहीं होती है। इसीलिये माता माता है, उसका पद कोई अन्य व्यक्ति ग्रहण नहीं कर सकता है। यहाँ भी जब शिशु माता की प्रेम-भरी पुचकार के उत्तर में उसकी छाती में मुँह छिपाकर माता को पहचानने लगता है तो आनन्द का स्रोत जो पहले अचेतन दशा में बह रहा था, एकाएक सजीव-सा बन जाता है।

जगज्जननी और उसकी प्रजा के बीच एवं प्रकृत माता और उसकी सन्तान के सम्बन्ध में भाव की यह एकता—अपूर्व समता दर्शनीय है। केवल ससीम और असीम एवं नश्वर और अविनाशी का भेद है। और एक भेद और भी है। संसार की माता सन्तान को अपने ही समान बनाकर छोड़ती है। अर्थात् माता को तब तक सन्तोष नहीं होता जब तक वह अपनी सन्तान में वात्सल्य-भाव को अंकुरित, पल्लवित और सफल न देख ले। यह उसकी सहज सीमा है। इससे अधिक करने की वह शक्ति नहीं रखती। परन्तु वह माता तब तक सन्तुष्ट नहीं होती जब तक वह अपनी सन्तान को आत्मरूप में पुनः सम्मिलित न कर ले। बात एक ही है। वह भी चाहती है कि मेरी सन्तान ठीक मेरी प्रतिमूर्ति बने। परन्तु असीम की प्रतिमूर्ति बनाने में ससीमता तथा द्वैत को स्वभावतः ही दूर हटना पड़ता है। असीम और अनन्त की तद्रूपता सायुज्यता का दूसरा नाम है। इसलिये तुलसीदास ने गाया है—

'जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई'।

यही मोक्ष है और यही निर्वाण वा परम पद है। जगज्जननी का परम सन्तोष, परम-प्रसाद इसी में है कि हमारी सन्तान ठीक हमारी प्रतिमूर्ति हो जाय।

जगज्जननी को प्रसन्न कर उसकी भाँति-भाँति से पूजा कर, नाच-कूद, गा-बजा और रिझाकर उससे उपहाररूप में मोक्ष वा परम-पद या अमृतत्व प्राप्त नहीं करना है। वरन् साधक की परम-पद-प्राप्ति में ही उसकी परम सन्तुष्टि है, परम प्रसाद है और परमानन्द है। सन्तान के परम साफल्य में ही माता का परमानन्द निहित हो, यह कोई आश्चर्य नहीं है। माता के वात्सल्य का यही मूल स्वभाव है।

अब ऐसी माता की सन्तान बनने से बढ़कर कौन सहज, सरल आनन्द-दायक पथ इस संसार-सागर को तरने का होगा? शिशु-भावापन्न उपासक की ओर से जगज्जननी किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखती। एक यही सम्बन्ध है, जो बदले में कुछ भी नहीं, यहाँ तक कि निःस्वार्थ वा स्वार्थपूर्ण प्रेम का प्रतिदान तक भी नहीं चाहता। और कौन है, जिसके विषय में यही बात जोरों के साथ कही जा सकती है? पुत्र के पक्ष में किसी उद्योग की अपेक्षा नहीं, न प्रेम, न विश्वास, न ज्ञान, न ध्यान। जिस चीज की, जिस साधन की जब आवश्यकता वह समझेगी, देगी; जो साधन उसे कराना होगा, करा लेगी। कुछ चाहने की जरूरत भी नहीं है—क्योंकि हम चाहें क्या? ज्ञान होने से उस वस्तु की आकांक्षा होती है। हमारा ज्ञान ही जब अज्ञानमय है तब चाह क्या? और जब श्रेय और हेय का भेद नहीं मालूम, तब त्याग वा ग्रहण किसका? यहाँ तक कि त्याग की चाहना भी असंगत है। फिर? उचित चाह उत्पन्न करना एवं अनुचित का दमन करना, यह भी माता का ही काम है क्योंकि वह माता सर्वशक्तिमयी है। सामयिक एवं क्षणिक इच्छाओं को पूराकर बालक का मन रख देना भी उसी का काम है। तात्पर्य, हम कुछ न चाहकर भी सब कुछ की आशा रखते हैं और चाहते हुए भी त्याग की राह देखते हैं।

भोग में त्याग और त्याग में भोग का यहाँ विचित्र संयोग हो जाता है। यह कुछ बड़ा विचित्र एवं अटपटा-सा लगता है। परन्तु साधक भावना करता है—'जिसने सृष्टि को उत्पन्न किया, मेरी इच्छा के बिना ही, क्योंकि 'मैं' का उस समय पता ही नहीं था, जिसने मुझे रचा, मेरे योग-क्षेम के लिये नाना प्रबन्ध किये, मुझमें मन, बुद्धि, चित्त, आदि का विलक्षण समावेश किया, फिर उनमें नाना वासनायें दीं, वह यदि सचमुच में सर्व-मङ्गल-खानि है और मोक्ष-पथ ही परम मङ्गलमय मार्ग है तो क्यों नहीं वही उचित प्रेरणायें कर बिना इधर-उधर भटकने देकर परम पद के पथ का पथिक बना देगी ?' और यदि वह यह न करे तो किस स्वाधीन शक्ति, साधन और उपकरणों को लेकर हम यह सब स्वाधीनतया कर सकेंगे ? यदि वह सर्वशक्तिमान् है तो इस निष्कर्ष से छुटकारा नहीं। यदि कोई इसकी अवहेलना सम्भव सिद्ध करे तो साथ-साथ उसकी सर्वशक्तिमत्ता भी उड़ जायगी। परन्तु जिस कोटि में प्रवेश कर यह चर्चा आरम्भ की गई है, वहाँ इस अन्तिम मत के उठाने की गुञ्जाइश नहीं है। उपासना-क्रम में प्रवेश करनेवाले, हृदय के चाहे कच्चे हों पर बुद्धि से वे इस सन्देह का निराकरण बहुत पहले कर चुके होते हैं। फलतः उपर्युक्त तर्कना और भावना के हिल्लोल में पड़कर साधक को यह कहते ही बनता है—

'तथापि त्वच्चेत् यदि मयि न जायेत सदयम्
निरालम्बो लम्बोदरजननि कं यामि शरणम् ?'
'यदि स्यान्तव पुत्रोऽहं माता त्वं यदि मामकी
दयापयोधरस्तन्यसुधाभिरभिषिञ्च माम् !'

जिस मायाजाल को उस परम ऐन्द्रजालिक ने रचा था, वह इस मीठी भर्त्सना से छिद जाता है। पासा पलट जाता है। उपास्य देव को अपना सिंहासन त्याग साधक की धाय बनना पड़ता है। क्यों ? इस-

लिये कि वह सर्वतोमुखी है, भाववश्य है और उसकी प्रतिज्ञा है— 'यो यथा मां प्रपद्यन्ते तां तथैव भजाम्यहम्'। साधक ने शैशव भाव से उसे माता ठहराया तब उसे भी माता बनकर शिशु का सारा भार अपने सिर ढोना ही रहा। शिशु के सुख के लिये योग—युक्ति करना रहा माता के सिर। साधक ने छुट्टी पा ली! अब मोक्ष चाहे जब और जहाँ मिले, चाहे न मिले, वह स्वतन्त्र, सदा के लिये निर्भर निश्चिन्त हो गया। संसार विस्मित, सशङ्कित और स्तंभित रह जाता है। पर वह मा के चरणों का मतवाला धीमे स्वर से कुछ ऐसा गुनगुनाता अपनी राह पकड़े चला जाता है—

नहिं चिंता है तिन्हैं, लहेनि मातु को प्यार।
जगजननी के पुत्र बनि, व्यर्थ धरैं तपभार॥

—:×:—

ब्रह्म-प्रकृति वा शिव-शक्ति

अम्भोधरश्यामलकुन्तलायै, 　विभूतिभूषाङ्गजटाधराय।
जगज्जनन्यै जगदेकपित्रे, नमः शिवायै च नमः शिवाय॥

सनातनधर्मी श्रौत पंचदेवोपासकों में यह प्राचीन परम्परा चली आई है कि नित्य के पूजन-विधान में भगवान् गौरीशंकर का पूजन सबके अन्त में किया जाय। गौरीशंकर के पूजन के अनन्तर किसी का भी पूजन नहीं किया जाता, जिस प्रकार कि गणेशजी के पहले कोई पूजा लेने का अधिकार नहीं रखता। ये गणनायक हैं और वे देवाधिदेव महादेव हैं!

और देवाधिदेव महादेव अर्द्धनारी-नटेश्वर हैं! दक्षार्द्ध में रजत-धवल पुरुषाकार विभूति-भूषित ज्ञान-योगारूढ़ भूत-भावन भगवान्

भूतेश प्रमथेश हैं; वामार्द्ध में सौम्यता, सौन्दर्य और प्रेम की लहरी मातृ-मूर्ति, सैवैश्वर्यमूला गौरी उमा सुन्दरी सजीव कल्पलता के समान शोभायमान हैं! यही भगवान् गौरीशंकर वा साम्बशिव हैं। इनकी अर्चा के बाद किसी की अर्चा शेष नहीं रह जाती।

यह क्यों? शिवजी शंकर होने पर भी संहार-कर्ता और तमोगुण-प्रधान कहे जाते हैं और गौरी जड़ हिमालय की पुत्री पार्वती ही तो हैं। इधर शिव और पार्वती दो व्यक्ति हैं, जिनका परिणय-सम्बन्ध हुआ। जिसके अनन्तर पार्वती शिव की शक्ति के पद पर प्रतिष्ठित हुईं। ऐसी दशा में उपर्युक्त अर्द्धनारी-नटेश्वर रूप का तात्पर्य ही क्या?

नारी और नर भिन्न हैं। इसी पर से ब्रह्म और प्रकृति भी भिन्न हैं, यह बात मन में सहज ही घर कर लेती है और ब्रह्म और प्रकृति के बारे में जब यह धारणा हुई तब देवताओं और उनकी शक्तियों के सम्बन्ध में इससे भिन्न कल्पना क्यों उठने लगी? देवताओं की शक्तियाँ देव-योनि-सम्भूत नारियाँ हैं, जिनका भिन्न-भिन्न देवताओं से प्रकृत-रीत्या परिणय हुआ होगा। पौराणिक कथाओं में, साधारण दृष्टि से, यही भाव निकलता हुआ प्रतीत भी होता है। फिर इसमें सन्देह ही क्या?

उपर्युक्त साम्य से एक और भावना निकलती है। संसार में अथवा मानव समाज में प्रायः पुरुष की प्रधानता रहती है। पुरुष बलवान्, स्वामी, स्वतन्त्र और अधिकार-युक्त है। नारी का स्थान गौण है। नारी नर की सहधर्मिणी है सही, पर धर्म तो पुरुष के ही अधिकार में चला आया है। इस भाव ने ब्रह्म और प्रकृति में से ब्रह्म को प्रधान और प्रकृति को गौण स्थान दिलाने में थोड़ा कार्य नहीं किया है। दाहिना अंग प्रबलतर देखकर ही पुरुषों ने अपने लिए अपनी भार्याओं के दक्ष भाग में स्थान स्थिर कर रखा है और लौकिक पुरुष-स्त्रियों की इस उपमा को ध्यान में रखकर ही उन लोगों ने

देवताओं और उनकी शक्तियों को भी क्रमशः दायें-बायें स्थान दिया है। ये अनुमान स्वाभाविक और सुसंगत-से लगते हैं।

अब यहाँ दो बातें जरा खटकती हैं। एक तो यह कि देवताओं की स्त्रियों के लिये 'शक्ति' शब्द क्यों प्रयुक्त हुआ है? दूसरे प्रकृति को नारी की समता ही क्यों दी गई? वह नारीरूपा क्यों समझी गई? इसे यों भी कह सकते हैं कि नारी में प्रकृति का कौन-सा लक्षण घटता पाया गया?

'शक्ति' शब्द व्यवहार में 'स्त्रीवाची' है अर्थात् 'स्त्री' के स्थान पर 'शक्ति' रख देने में कोई बाधा नहीं है। दोनों समानार्थक हैं यह मान लेने से पहला खटका मिट जाता है और ऐसा मान सकने में कोई हानि नहीं जान पड़ती। परन्तु इतने से मन का समाधान हो जाय तब?

दुर्गा-सप्तशती के अष्टम अध्याय में देवताओं की शक्तियों का उल्लेख हुआ है। उसका कुछ अंश अवलोकन कीजिये—

> हंसयुक्तविमानाग्रे साक्षसूत्रकमण्डलुः।
> आयाता ब्रह्मणः शक्तिर्ब्रह्माणी साभिधीयते ॥—८।१५
>
> माहेश्वरी वृषारूढा त्रिशूलवरधारिणी।
> महाहिवलया प्राप्ता चन्द्ररेखाविभूषणा ॥ –८।१६
>
> * * * *
>
> तथैव वैष्णवीशक्तिर्गरुडोपरिसंस्थिता।
> शंखचक्रगदाशार्ङ्ग खड्गहस्ताभ्युपाययौ ॥—८।१८
>
> * * * *
>
> वज्रहस्ता तथैवैन्द्री गजराजोपरिस्थिता।
> प्राप्ता सहस्र नयना यथा शक्रस्तथैव सा ॥—८।२१

इन कतिपय श्लोकों में ब्रह्मा, महेश्वर, विष्णु और इन्द्र आदि की शक्तियों का वर्णन हुआ है। ये शक्तियाँ ब्रह्माणी, माहेश्वरी, वैष्णवी आदि के नाम से पुकारी गई हैं। परन्तु उनके रूप इन देवताओं की स्त्रियों अर्थात् सरस्वती, पार्वती, लक्ष्मी एवं शची के पुराण-प्रसिद्ध रूपों से मेल नहीं खाते—अपितु बिलकुल भिन्न हैं। शची के सहस्र नेत्र कहाँ हैं? लक्ष्मी उलूकवाहना हैं, उनके हाथ में संहारक अस्त्र कहाँ से आ गये? पार्वती पार्वती-रूप में माहेश्वरी के उक्त कथित रूप से बिलकुल भिन्न हैं। सरस्वती ने कब कमण्डलु ग्रहण किया? इधर यह भेद, उधर इन शक्तियों का रूप क्रमशः उन-उन देवताओं का पूरा-पूरा अनुकरण देख पड़ता है। वैष्णवी लक्ष्मी नहीं हैं। अनुमान होता है, विष्णु ने स्वयं ही स्त्री-वेश धारण किया है। यही बात इन्द्र आदि के विषय में भी घटती है।

इस प्रसंग के आरम्भ में एक श्लोक आया है। उसमें लिखा है कि देवताओं की शक्तियाँ उन-उन देवताओं के रूप में ही प्रकट हो असुरों से युद्ध करने लगीं। वह श्लोक इस प्रकार है—

> यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषणवाहनम्।
> तद्वदेव हि तच्छक्तिरसुरान् योद्धुमाययौ ॥ ८।१४

अब प्रश्न यह है कि यहाँ जिन शक्तियों का उल्लेख हुआ है, वे कौन हैं? क्या वे इन देवताओं से भिन्न (भले ही वे देवयोनि-संभूता और उनकी भार्य्या हों) व्यक्ति हैं? क्या शची ने इन्द्र का साज-बाज सजा लिया था?

इस १४ वें श्लोक के पूर्व एक और श्लोक है। वह यों है—

> ब्रह्मेशगुहविष्णूनां तथेन्द्रस्य च शक्तयः।
> शरीरेभ्यो विनिष्क्रम्य तद्रूपैश्चण्डिकां ययुः ॥ ८।१३

ब्रह्मादिक की शक्तियाँ उनके (ब्रह्मादिक के) शरीर से निकलकर उन्हीं के रूपों में चण्डिका के समीप गईं। बस, अब सब स्पष्ट हो गया। ये शक्तियाँ उन देवताओं के अन्दर से प्रकट हुईं—उनसे भिन्न नहीं थीं। 'फलतः उनका रूप उन देवताओं के अनुरूप होना भी स्वाभाविक था। जिस शक्ति से जो देवता अपने देवत्व से युक्त था, वह सूक्ष्म किन्तु कारणीभूता शक्ति ही साकार रूप से प्रकट हुई थी। इस शक्ति से भिन्न देवता कहाँ?

यहाँ पर 'शक्ति' शब्द से जो भाव लिया गया है, वह तो स्पष्ट हो गया। अब प्रश्न यह रह गया कि क्या देवताओं की स्त्रियाँ भी देवताओं की शक्तियों के भावान्तर मात्र हैं—वे देवताओं से भिन्न नहीं हैं? और यदि यह बात भी हो तो स्त्री को शक्तिरूपा और शक्ति को स्त्रीरूपा क्यों कल्पित किया गया? यह अन्तिम प्रश्न ऊपरवाले प्रश्न का रूपान्तर मात्र है। इसलिए एक ही विवेचना में दोनों का समाधान हो जायगा।

'प्रकृति' को नारीरूपा क्यों समझा गया? 'प्रकृति' शब्द व्याकरण में स्त्री-लिंग है; क्या इसीलिए प्रकृति में नारी-भावना हुई। 'ब्रह्म' शब्द नपुंसकलिंग और हिन्दी में पुल्लिङ्ग माना जाता है और ब्रह्म को पुरुष, साक्षी, द्रष्टा कहते भी हैं। परन्तु 'ब्रह्म' किस लिङ्ग-विशेष से युक्त है, यह किसी ने नहीं जाना। इसीलिए ब्रह्म पुल्लिङ्ग ही है, ऐसा किसी का आग्रह भी नहीं हो सकता। अथवा नपुंसक कहने से जिस विशेष गुणयुक्त (या गुण-हीन) कोटि की कल्पना होती है, उस कोटि में भी आज तक ब्रह्म को रखने की किसी ने चेष्टा नहीं की। हाँ, नपुंसक को जिस प्रकार न पुरुष और न स्त्री ही कह सकते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म को भी किसी कोटि में नहीं रख सकते। इसी भाव को लेकर 'ब्रह्म' शब्द संस्कृत में नपुंसक गिना गया जान पड़ता है। यहाँ कौन-सा भाव है, जो प्रकृति को स्त्रीलिङ्ग गिना गया और उससे भी आगे बढ़कर उसे नारीरूपा माना गया?

ब्रह्म चेतन, साक्षी और द्रष्टा है। पुरुष में भी ये तीनों गुण घटते हैं। अतएव ब्रह्म को पुरुष की पदवी मिली। प्रकृति अचेतन है; तो क्या स्त्री-जाति के जड़त्व (बुद्धि-मान्द्य) ही में प्रकृति के प्रधान गुण को घटाया गया है ? परन्तु जड़त्व वा बुद्धि-मान्द्य स्त्रियों का स्वाभाविक गुण वा दोष माना गया है, यह कैसे कहें, जब ह्री, श्री, धी, धृति, क्षमा, दया आदि सारे-के-सारे सात्विक गुणों का नारीरूप पुराण-प्रसिद्ध है। और-तो-और, सब शास्त्रों और ज्ञान-विज्ञानों की जननी गायत्री वेद-माता ही कही गई हैं। फिर स्त्री भी पुरुष के समान द्रष्टा, साक्षी और सचेतन है। प्रकृति की समता जब उसे मिली है तो अवश्य किसी अंश में इससे अधिक घनिष्ट साम्य होना चाहिए।

अच्छा, आइये प्रकृति के रूप की कुछ विवेचना करें। प्रकृति जड़ भौतिक पदार्थ वा जड़ शक्ति नहीं है। प्रकृति तो वह मूल-भूत शक्ति है, जिसके सहारे यह संसार प्रकट हुआ और प्रकट होकर स्थित है। जिस समय 'एकमेवाद्वितीयम्' परब्रह्म में 'एकोऽहं बहुस्याम' की भावना उत्पन्न हुई, उस समय ही साम्या प्रकृति गुण-क्षोभिणी बन गई। गुण-क्षोभिणी प्रकृति ने अपने गुणों का पसारा किया और ब्रह्म को अपनी माया से आवृत्त कर डाला—इस प्रकार वह महामाया कहलाई। और इस महामाया के संयोग से परब्रह्म का एक अंश परमात्मा बना, परमात्मा अपने एक अंश से आत्मारूप में प्रकट हुआ और आत्मा जीवरूप से संसार की लीलायें करने लगा। इसको दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि प्रकृति ब्रह्म के भीतर बीजरूप से निहित थी। फिर वह उससे बाहर निकलकर स्वयं ही परब्रह्म को आच्छादित करने लगी और इस संयोग से ब्रह्म उसके गर्भ में पड़कर आत्मारूप वा जीवरूप से उसका पुत्र बनकर प्रकट हुआ।

प्रकृति को ब्रह्म वा परमात्मा की प्रकृति, स्वभाव वा धर्म कहिये, चाहे उसे अविद्या कहकर मिथ्या माया बताइये पर उसकी यह प्रक्रिया अनादिकाल से चली आई है, चल रही है और

चलती रहेगी। उसकी प्रबल शक्ति के आगे कोई तर्क-वितर्क ठहरनेवाला नहीं है। इसीलिए वह मूला-प्रकृति, आद्या-शक्ति और महामाया है। ईश्वर से लेकर कीटाणु-कीट तक सब उसी के पुतले हैं। हिरण्यगर्भ और पितामह ब्रह्मा के भी आदि में वही है और जिस ब्रह्म के माननेवाले उसे मिथ्या बताते हैं, वह ब्रह्म भी इसीलिए जाना जाता है कि वह प्रकृति है। यदि वह न होती तो कौन किसे जानता, जनाता और मानता? हाँ, तो इस प्रकृति का प्रधान धर्म संसृति-जाल में वैसा ही प्रकट है जैसा ऊपर बताया गया है। अब इसकी समता स्त्री से कीजिये।

इस संसार में नारी पुरुष के ही भीतर वीजरूप से छिपी रहती है। फिर वही नारी पुरुष की सन्तति-कामना (जो 'एक' में अपने को बहुधा प्रकट करने की इच्छा का रूप-विशेष है) को चरितार्थ करने के लिए सहधर्मिणी रूप से उसकी स्वामिनी बनती है। फलतः वही पुरुष अपने एक अंश से उसके गर्भ में जाकर कालान्तर में उसका पुत्र बनकर प्रकट होता है। प्रकृति और नारी का धर्म इस प्रकार एक समान ही चलनेवाला है। **संक्षेप में 'एक' को 'अनेकत्व' देने की शक्ति जिसमें है, वही नारी है, वही प्रकृति है।** इसीलिए यह वसुन्धरा पृथ्वी हमारे यहाँ नारीरूपा मानी गई है, पुरुष नहीं।

पुरुष पुरुष है। ब्रह्म भी ब्रह्म है। दोनों अपने आप स्थित हैं। इस स्थिति में वे स्वतन्त्र हैं, निरपेक्ष हैं। पर इतने ही भर के लिये। परन्तु यदि उनमें सृष्टि-कामना उत्पन्न हो तो? तो फिर किसी का मुँह देखना पड़ता है। उस इच्छा को चरिताथ करने की सामर्थ्य नारी में, प्रकृति में ही है। इसीलिये नारी को शक्ति कहते हैं और प्रकृति को महाशक्ति।

कार्य मात्र की विवेचना की जाय तो उसके दो स्वरूप पाये जाएँगे। एक कामना रूप, दूसरा व्यक्त वा क्रिया-रूप। और कामना मात्र जो व्यक्त वा क्रियारूप में प्रकट होती है सो भी उत्पन्न होने वा

जन्म लेने की क्रिया भर है। यही उत्पादिनी क्रिया सब जगह दिखाई पड़ेगी। और नारी, प्रकृति वा शक्ति इस उत्पादिनी क्रिया का एक-मात्र आधार है। इसे उलट कर भी कह सकते हैं कि उत्पादन जिसके सहारे होता है, वही नारी, शक्ति और प्रकृति है। इस उत्पादन-क्रिया के भीतर संहार, पालन और सृजन तीनों ही का समावेश है। यह जरा ध्यानपूर्वक देखने से ही समझ में आ जायगा। उत्पन्न होने की क्रिया का अर्थ अभाव से भाव वा कुछ नहीं के भीतर से कुछ का उत्पन्न होना नहीं है। उत्पत्ति का अर्थ नवीन रूप मात्र है। जब कोई एक रूप से दूसरे रूप में जाता है तो प्रथम रूप का नाश और दूसरे रूप की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी जब पौधे को उत्पन्न करती है तो उसके पूर्व रूप बीज का संहार भी करती है। इस प्रकार प्रकृति की सृष्टि, स्थिति और लय की त्रिविध प्रक्रियाएँ सूक्ष्म रूप से उत्पादिनी शक्ति मात्र में हैं। इसलिये प्रकृति को नारीरूपा और नारी को प्रकृति की प्रतिमा कहने में जरा भी अत्युक्ति नहीं जान पड़ती है। और 'शक्ति' शब्द का प्रयोग नारी वा प्रकृति के लिये नितान्त युक्तिसङ्गत और सार्थक लगता है।

इस प्रकार देवताओं की स्त्रियों के लिये 'शक्ति' शब्द का व्यवहार सुसंगत होने पर भी यह बात तो रहती ही है कि देवता और उनकी देवी (स्त्री) दोनों दो हैं, एक-दूसरे से स्वतन्त्र स्थिति-युक्त हैं। उधर शिव और पार्वती को मिलाकर गौरी-शंकर का अर्द्धनारी-नटेश्वर रूप बनाया गया है।

ब्रह्म और प्रकृति भी भिन्न ही माने गये हैं। इसीलिये वेदान्त को अद्वैत पर पहुँचने के लिये प्रकृति को अविद्या, माया, मिथ्या और भ्रम बनाकर प्रकृति से पीछा छुड़ाना पड़ा है। परन्तु आज तक पीछा तो छूटा नहीं ! सम्भवतः आगे भी छूट न सकेगा।

अस्तु, हम लोग सांसारिक नर-नारी भेद की ही पहले मीमांसा करें। सामान्य दृष्टि से तो यही कहना पड़ेगा कि नर और नारी अपनी

स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। दोनों के जीवन में कोई भी शारीरिक, भौतिक वा रासायनिक सम्बन्ध नहीं है, जिससे किसी दो नर-नारी, वा स्त्री-पुरुष का जीवन संयुक्त वा एक कहा जा सके। क्योंकि एक के शरीर की क्षय-वृद्धि का प्रभाव दूसरे के शरीर पर तो होता नहीं—होने का कोई वैज्ञानिक कारण भी दिखाई नहीं देता। एक का अंग भंग हो तो दूसरे का अंग पीड़ित नहीं होता है। एक मृत्यु का ग्रास बने, फिर भी दूसरा जीवन के पथ पर ज्यों-का-त्यों स्थिर रहता है। तब कैसे कहा जाय कि दोनों भिन्न और स्वतन्त्र नहीं हैं?

परन्तु यदि यह बात पक्की है, दोनों स्वतन्त्र और भिन्न हैं, तो वे नवीन सृष्टि के लिये एक दूसरे की अपेक्षा क्यों रखते हैं? जो भिन्न होंगे, वे परस्पर निरपेक्ष भी होंगे। यदि सांसारिक वस्तुओं का निरीक्षण किया जाय तो प्रकट होगा कि यदि दो वस्तुएँ जीवन-मृत्यु में स्वतन्त्र होते हुये भी नवीन जीवन की सृष्टि में सापेक्ष हैं तो उन्हें स्वतन्त्र व्यक्ति न कहकर किसी अन्य स्वतन्त्र सत्ता के अंग मानना उचित होगा। बाल उपजते और झड़ते हैं, किसी अन्य अंग को इसकी सुधि भी नहीं होती। फिर भी वे प्राणी के अंग वा उपांग मात्र ही हैं। दाँतों के गिर जाने से हाथों को कोई हानि नहीं होती और आँखों की ज्योति मन्द पड़ने से जिह्वा वा मुख को कोई बाधा अनुभव नहीं करनी पड़ती। फिर भी वे अंग मात्र ही गिने जाएँगे। कारण कि वे अपने प्रतिरूप की सृष्टि नहीं कर सकते। उनका प्रतिरूप तो वह उत्पन्न कर सकता है, जिसके वे अंग हैं। केवल नर-नारी स्वयं अपने प्रतिरूप की सृष्टि नहीं कर सकते। इसलिये कहना पड़ता है कि ये दोनों किसी स्वतन्त्र सत्ता के अंग मात्र हैं। जिस प्रकार एक ही वृक्ष में पुल्लिंग-कुसुम और स्त्री-लिंग पुष्प हुआ करते हैं और वह वृक्ष इन दोनों अंगों के योग से अपने को सफल बनाता है, नवीन सृष्टि करता है, वही दृष्टान्त यहाँ भी लागू है। केवल जिस 'एक' के नर और नारी अंग हैं, वह 'एक'

अदृश्य है। जिस वृक्ष के हम भिन्न-भिन्न कुसुम हैं, वह वृक्ष अव्यक्त है।

यदि हम उत्क्रान्ति-वाद वा क्रम-विकाश के सिद्धान्त की ओर देखें तो वहाँ इस अनुमान के पक्ष में सबल एवं प्रत्यक्ष भौतिक प्रमाण मिलेंगे। क्रम-विकाश ने यह सिद्ध किया है कि इस पृथ्वी पर के जितने जीव हैं, वे सब एक मूल से क्रमशः जीवन की उच्चतर सीढ़ियों पर चढ़ते हुये अपने वर्तमान रूप में आये हैं। और विकाश-वादियों ने विकाश के क्रम में क्रमशः जो जीव आगे-पीछे होते आये हैं, उनकी माला वा क्रमागत तालिका भी तैयार कर ली है। इस तालिका वा माला का यदि अवलोकन किया जाय तो वहाँ ऐसे जीव मिलेंगे, जिनमें एक अंग नर है और दूसरा नारी। उन्हें अपनी वंश-वृद्धि के लिये अपने से भिन्न किसी की आवश्यकता नहीं रहती। ऐसे जीवों को छोड़कर यदि और भी पूर्वावस्था के जीवों को देखा जाय तो उनमें नारी और नर एक में ही दिखाई देंगे। उनके विभिन्न लिंगों का बाहर विकास भी नहीं हुआ है। वे आप अपने अंग के एक भाग को अलग कर देते हैं और वही खण्ड नवीन जीव बन जाता है। यदि उद्भिजों का जीवन देखा जाय तो उनमें भी तीन वर्ग मिलेंगे। सबसे उन्नत वा क्रम-विकाश में पीछे आनेवाले वनस्पति और पादपों में नर-पुष्प और नारी-पुष्प अलग-अलग वृक्षों पर हुआ करते हैं। पुंपराग वायुवेग वा भ्रमर-संयोग से स्त्री-पुष्पधारी वृक्षों के गर्भकोष में जब प्रवेश पाता है, तब वे वृक्ष फलवान् होते हैं। फलतः नर-वृक्ष केवल पुष्प ही देते हैं, फल नहीं। उनका काम नारी वृक्षों को सगर्भ करना मात्र है। उनसे पूर्वावस्था के लता-वृक्षों में पुंपुष्प और स्त्री-पुष्प अलग-अलग किन्तु एक ही लता वा वृक्ष में हुआ करते हैं। पुंपुष्प अपने बीज-कण को देकर चू जाते हैं। नारी पुष्प उन बीज-कणों से सगर्भ हो फलवान् बनते हैं। कद्दू, खीर, कुम्हड़े आदि में प्रायः ऐसे ही दो प्रकार के पुष्प हुआ करते हैं। इनसे भी निम्न प्रकार की एक तीसरी कोटि है,

जिसमें एक ही पुष्प में पुंकेसर और गर्भ-कोष दोनों हुआ करते हैं। और चौथे प्रकार की वंशवृद्धि उसके अंगच्छेद-द्वारा होती है। विच्छिन्न अंग अनुकूल परिस्थिति में स्वतन्त्र लता वा वृक्ष के रूप में बढ़ने लगते हैं।

यह सब कहने का तात्पर्य यह कि पुं-नारी-भेद कुछ सृष्टि-क्रम के भीतर का स्थायी और मौलिक भेद नहीं है। जीवन-विकाश-वल्लरी के पुरुष और नारी दो पुष्प हैं, जो स्वतन्त्र कोई स्थिति नहीं रखते। वा कहें तो कह सकते हैं स्रष्टा के लुहार-खाने में सजीव मूर्तियाँ ढालने के लिये जो साँचे हैं, उनमें कुछ एक साँचे दो भागों में विभक्त कर डाले गये हैं। उन विभक्त साँचों का एक आधा पुरुष है और दूसरा आधा नारी। वास्तव में देखा जाय तो पुरुष केवल पुरुष ही नहीं है। उसमें अन्तर्निहित नारी भी वर्तमान है। उसके ही भीतर तो नारी बीजरूपेण स्थित है। उसी प्रकार नारी भी केवल मात्र नारी नहीं है। उसके अन्तर में ही पुरुषत्व का बीज् है। तभी नारी पुरुष की जननी बनती है।

मानव-शरीर की रचना और कार्य-प्रणाली एवं ह्रास-वृद्धि की जिन लोगों ने पूरी परीक्षा औरआलोचना की है, उनका कहना है कि नारी और पुरुष दोनों में ही उभय लिंग वर्तमान होते हैं। केवल एक सुविकसित होता है, दूसरा अपने रूप में ही रह जाता है। यह सभी बातें एक इसी तत्व को पुष्ट करती सी जान पड़ती हैं कि नारी और पुरुष दो विभिन्न और वस्तुएँ सर्वांश में परस्पर निरपेक्ष और स्वतन्त्र नहीं हैं वरन् एक ही सृष्टि-वल्लरी के दो पुष्प मात्र हैं।

अब यदि एक दम्पति को इस दृष्टि से देखा जाय तो उन्हें एक संयुक्त प्राणी कह सकेंगे। और उनमें से पुरुषांग की सृष्टि-कामना को कार्य-रूप में परिणत करनेवाली शक्ति नारी अंग में ही है। पुरुष उस नारी से सशक्त बनता है। इसलिये नारी पुरुष की शक्ति कहलाती है।

यह स्थूल जगत की बात है, जहाँ द्वैत और भेद को छोड़कर अभेद और अद्वैत की कल्पना ही सम्भव नहीं है।

अर्द्धनारी-नटेश्वर गौरीशङ्कर की महिमामयी मूर्ति में नारी-पुरुष के इसी भेदाभेद, द्वैताद्वैत को सजीवता और प्रत्यक्षता प्राप्त करने का अवसर मिला है। वे एक हैं, एक-लिंग हैं और साथ ही शिव और पार्वती के रूप में भिन्न-भिन्न भी हैं और फिर गौरी-शङ्कर के रूप में द्वैत और अद्वैत, भेद और अभेद, एकत्व और अनेकत्व की एक-रूपता भी करनेवाले हैं।

और इसीलिये महादेव का नाम कामारि भी प्रसिद्ध है। काम को भस्म करके महादेव काम-रिपु नहीं हुये। वे भेद और अभेद दोनों के आधार हैं, अतएव उनमें काम की स्थिति हो नहीं सकती। इसलिये कामदेव उनमें प्रवेश करने की चेष्टा में थल पर विहार करने की चेष्टा करनेवाली मछली की तरह स्वयं ही नाश को प्राप्त हुआ।

भगवान् गौरीशङ्कर की मूर्ति अद्वैत मूर्ति है। माया के जाल द्वैत-क्षेत्र में फैलते हैं। जहाँ अद्वैत है, वहाँ काम, क्रोध, लोभ, मोह किसी की भी कल्पना नहीं हो सकती। साकार परम पुरुष और परमा प्रकृति के उदर में ही सारे ब्रह्माण्ड का पसारा है। उसकी जब पूजा की जा चुकी तब और कौन बच रहता है! भगवान् गौरीशङ्कर की मूर्ति में पुरुष और प्रकृति की इस प्रकार एकरूपता करके अद्वैतवाद के केवल कल्पनिक से लगनेवाले परम सिद्धान्त को जीवन्त एवं मूर्ति-मन्त बना डाला गया है।

माया मिथ्या है, ब्रह्म ही सत्य है, यह अद्वैत सिद्धान्त है। और ब्रह्म सच्चिदानन्द है। तब फिर वही ब्रह्म जीवरूप से क्यों अपने को असहाय, दुःखी, कातर और भव-व्याधि से जर्जरीभूत पाता और मानता है? इस प्रश्न का उत्तर नहीं है। समाधान में इतना ही कहा जाता है कि भ्रम जिसे है, वह स्वयं यह कैसे जान सकता है कि भ्रम

क्यों हुआ ? ठीक है पर जो भ्रम सार्वदेशिक है, सर्वकालिक है और अनादि है, वह भी क्या भ्रम ही माना जायगा ?

बात ऐसी है कि माया और ब्रह्म की यह कल्पना भी उसी माया के भीतर की ही बात है। वह तत्व अचिन्त्य, अवर्णनीय, अकथनीय है, जिसमें माया भी है और ब्रह्म भी। और इन दो के आगे देखा नहीं जा सकता। इसलिये इन दोनों की ही संयुक्त प्रतिमा में वह परम तत्व मिलता है। जिसे ब्रह्म-वादी ब्रह्म कहते हैं, वह शान्त प्रकृतिस्थ है महामाया और जिसे प्रकृति और माया कहा जाता है, वह कार्यशील सक्रिय ब्रह्म है।

श्रीरामकृष्ण परमहंस ने अपनी चुटीली भाषा में इसे यों कहा है—

'सोये हुये और फन काढ़े फुफकारते दौड़ते सर्प में जो भेद है, वही भेद माया और ब्रह्म में है। गूढ़ शक्ति ब्रह्म है, व्यक्त शक्ति माया है।'

पूर्ण सत्य न केवल निराकार है, न केवल साकार। निराकार और साकार दोनों का आधार जो है, वही वह है। वही वेद-वेदान्त का लक्ष्य, सुरासुरों का पूज्य, पितामह का भी पितामह, सब धर्मों का ध्येय और सब साधकों का परमाराध्य और साध्य है। आशुतोष भगवान् गौरीशङ्कर में भी वही प्रकट है और शवासीना महाकाली भी उसी की प्रतिमा है।

वह सर्वतोमुख है। वह नारीरूप से भी उपास्य है और पुरुषरूप से भी ध्येय है। किसी ने ठीक कहा है—

रुचीनां वैचित्र्यात् ऋजु-कुटिल-नानापथजुषां,
नृणां एकोगम्यः त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

अपनी अपनी रुचियों के अनुसार सीधे, टेढ़े, नाना मार्गों पर चलनेवाले सभी साधकों के हे महादेव, तुम्हीं अन्तिम लक्ष्य हो, जिस प्रकार सभी नदियों का गन्तव्य एक ही महासागर है।

और उसे जगज्जननी रूप में देखनेवाले एक भावुक ने उसको इस प्रकार भावित किया है—

ब्रह्मतरुर्जय तारिणि मुक्ते !
ब्रह्मा-विष्णु-शिव-शाखायुक्ते !
मोक्षफलं फलमद्भुतसुरसं,
ब्रह्मानन्दमयं कुरु पुरुषम् !!

वह चिरन्तन है, सनातन है, अव्यक्त और अविनाशी है। उसका ज्ञान पाना ही परमपुरुषार्थ है। जो उसे जानता है, वही ज्ञानी है। परन्तु यह तो उसके परमप्रसाद ही से संभव है।

इसलिये आइये, भक्त-शिरोमणि तुलसीदास की इन अमर पंक्तियों से उस तारिणी की वन्दना करें—

गिरा-अर्थ जल-वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दौं सी ता रा म पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ॥

भाव-त्रय

उपासना के सम्बन्ध में भावों का कथन हुआ है। वहाँ पर उपासक के उपास्य के प्रति होनेवाले व्यवहार, आचरण और विचार जिस वृत्ति-विशेष से प्रेरित होते हैं, उसी को सांसारिक सम्बन्ध की उपमा देकर अमुकामुक भाव के नाम से वर्णन किया जाता है। इन सम्बन्धों में बाह्य रूप का भेद मात्र है। मूल में सब एक ही भाव से उत्पन्न होते हैं; अर्थात् उपास्य के प्रति उपासक की श्रद्धा, भक्ति-विश्वास और

उसके ऐकान्तिक आश्रय-ग्रहण से ही सब भावों की उत्पत्ति होती है। शाक्त-धर्म के ग्रन्थों में इससे भिन्न भावों का वर्णन आता है। वहाँ भाव-त्रय का उल्लेख है। उन्हीं तीनों भावों का कुछ वर्णन यहाँ किया जायगा।

तन्त्रोल्लिखित भाव-भेद कुछ और ही क्रम से हैं। उनके नाम हैं—पशुभाव, दिव्यभाव एवं वीरभाव। इनको समझने के लिये हमको पहले मनुष्य को समझना होगा।

मनुष्य क्या है? शरीर मनुष्य नहीं है और मन, बुद्धि, चित्त अथवा अहंकार भी मनुष्य नहीं है। मनुष्य तो वास्तव में जीवात्मा है। जीवात्मा जब शरीर-विशेष में रहता है तब मनुष्य कहलाता है एवं इतर आश्रय में इतर नामों से अभिहित होता है। शरीर की दृष्टि से मनुष्य पशु है परन्तु कतिपय शक्तियाँ उसमें ऐसी हैं, जो उसे पशुवर्ग से भिन्न कर देती हैं।

प्राणी मात्र में दो भिन्न विपरीत शक्तियों का सङ्गम है, चेतना और अचेतन का, प्रकृति और पुरुष का, स्थूल और सूक्ष्म का, व्यक्त और अव्यक्त का, वाह्य और अन्तर का तथा देह और आत्मा (जीव) का! स्थूल देह एवं इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं। इनका जितना भी विकास होता है, ये जितनी अधिक शक्तिशालिनी होती जाती हैं, उतना ही वे बाह्य विषयों में, अपने से भिन्न वस्तुओं की ओर दौड़ती हैं और प्राणी (देही) को उधर ही खींच ले जाती हैं। जीव वा आत्मा (देही) का जब आत्म-भाव वेगवान् होता है तो वह सारी वृत्तियों को अन्तर्मुख बना डालता है। मनुष्य आत्मा-राम बन जाता है। मनुष्य बाह्य विषयों से, यहाँ तक कि अपनी देहेन्द्रियादिक से भी, स्वतन्त्र हो जाता है। तब वह अपनी दिव्यता में स्थिर, शान्त और सुखी बन जाता है। पहला तमोगुण-प्राधान्य-जनित है। दूसरे में शुद्ध सत्व का पूर्ण तेज विकास पाता है।

इन द्वन्द्वों के एकत्र संयोग से एक नवीन वस्तु, नवीन शक्ति उत्पन्न होती है। वह है मन। मन प्रधानतः राजसिक है क्योंकि यह मध्यवर्ती है। रजोगुण सत्व और तम का मध्यविन्दु वा सन्धिस्थान है। जिस प्रकार एक चुम्बक की शलाका का एक मुख उत्तरी ध्रुव को और दूसरा मुख उसकी विपरीत दिशा अर्थात् दक्षिणी ध्रुव को आकर्षित होता रहता है परन्तु उसका मध्य विन्दु, जहाँ दोनों ही संलग्न हैं, भिन्न प्रकार से व्यवहार करता है, उसी प्रकार मन की दशा है। यह व्यक्त भी है और अव्यक्त भी; इसकी क्रिया उभयात्मिका है। यह बहिर्मुख भी है और अन्तर्मुख भी है। यह स्वयं एक इन्द्रिय है और दूसरी ओर इन्द्रियों का प्रेरक भी।

पशुओं में उपर्युक्त तमोगुणी प्रभाव का प्राधान्य है। क्योंकि हम देखते हैं कि उनके प्रायः सारे कार्य-कलाप भिन्न-भिन्न इन्द्रियों और अंगों की भौतिक आवश्यकता और प्रेरणा से हुआ करते हैं। उनकी मानसिक क्रिया अत्यन्त सीमित है। वह इस दर्जे तक विकसित नहीं है कि वे अपने शरीर और इन्द्रियों पर आधिपत्य जमा सकें, वा उनकी प्रेरणाओं की दिशा को बदल सकें; उनका मन अपनी स्वतन्त्र सत्ता प्रकट करने में असमर्थ है। इधर मनुष्य में मन एक स्वतन्त्र सत्ता है और यही मनुष्य और पशु में भेद है। शास्त्र का यह वचन प्रसिद्ध है—

आहार-निद्रा-भय मैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

मनुष्य के शरीर के अंग और इन्द्रियों की सब क्रियायें (भूख-प्यास, निद्रा, भय, कामोपभोगादि) तो किसी बात में भी पशुओं से भिन्न नहीं हैं। विशेषता केवल धर्म की है। धर्माचरण मन का विषय है, शरीर का नहीं। यहाँ तक कि गीता के 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' वाक्य में ही मनुष्य के बन्धन और मुक्ति का कारण बतलाया गया है।

ऊपर के श्लोकार्ध में आहार-निद्रादि इन्द्रियचर्या मनुष्यों और पशुओं की बिलकुल एक जैसी मानी गई है। परन्तु वास्तव में ऐसा देखा नहीं जाता। पशुओं की इन्द्रियचर्या बिलकुल ही नियमित है—वह बिलकुल सहज एवं प्राकृत है। प्रकृति ने जिस उद्देश्य से इस संसृति-जाल को फैलाया है, उसी की पूर्ति और प्रगति के लिये वह सारे जीवों की भिन्न-भिन्न इन्द्रियों में समयानुकूल प्रेरणा करती रहती है। अतएव उनका भोग सहज है, प्रकृति-प्रेरित है, यहाँ तक कि उन प्रेरणाओं को चरितार्थ करने की सामग्रियाँ भी वहीं इकट्ठी कर देती है। उनकी इन्द्रियों में अपने विषय की ओर जाने की प्रवृत्ति भी प्राकृतिक दशाओं की अपेक्षा रखती है। अपने समय पर इन्द्रियाँ उत्तेजित होती हैं और पशु को स्वानुकूल कर्म में लगने के लिये विवश करती हैं। जब तक उनमें वह उत्तेजना रहती है तब तक उसकी चरितार्थता के अभाव में उन्हें व्याकुलता वा कष्ट का अनुभव होता है एवं उसी प्रकार समय पर उनकी इन्द्रियों को अनुकूल विषय प्राप्त होने पर सुख और आनन्द का अनुभव होता है। इसी को दृष्टि में रखते हुये मीमांसकों ने सुख को अनुकूल वेदना और दुःख को प्रतिकूल वेदना कहा है। यह बात मनुष्य की देह के लिये भी ठीक है। मनुष्य शरीर के अंग और इन्द्रियों के व्यापार भी अपने सहज स्वाभाविक एवं मौलिक रूप में ठीक पशुओं के से हैं, इसमें सन्देह नहीं। यह बात नव-जात शिशु के कार्य-कलापों के सूक्ष्म निरीक्षण से सहज ही स्पष्ट हो जायगी। परन्तु इसके आगे बड़ा भारी अन्तर मिलता है। पशुओं का मन उनकी इन्द्रियों की तात्कालिक दशा से प्रभावित भर होकर रह जाता है। उत्तेजना-विशेष के शमन होने पर वह भी शान्त हो जाता है। उस पर कोई भी प्रभाव बाकी नहीं रह जाता। हवा उठी, तालाब का जल चञ्चल हो उठा; हवा शान्त हो गई, जल भी पूर्व अवस्था में ज्यों-का-त्यों आ गया। मनुष्य का मन किन्तु जलाशय का जल नहीं। वर्षा में आम की डाल पर बैठी कोयल मौज में कूक

रही है। हमारी श्रोत्र इन्द्रिय ने उस कूक का अनुभव किया एवं अनुकूल वेदना से इन्द्रिय-तन्तुओं को सुख हुआ। फलतः मन भी प्रफुल्लित हो गया। इतनी क्रिया जो हममें हुई, यह पशु-व्यवहार से कुछ भी भिन्न नहीं है। अनन्तर मन की क्रिया स्वतन्त्ररूप से शुरू होती है, जो पशुओं में पाई नहीं जाती। उस स्वर की विवेचना, विश्लेषण और तुलना, उसका कारण, उससे होनेवाले प्रभाव, उसका अनुकरण किसी अन्य साधन से यदि किया जा सकता है तो किस प्रकार? आदि विचार-धारा चल पड़ती है। इसमें मन को अनोखा आनन्द मिलता है। यह क्षेत्र केवल मन का ही है। दूसरी इन्द्रियाँ इसमें प्रवेश नहीं कर पाती हैं। शरीर बाह्य जगत के व्यवहार के लिये है। मन बाह्य जगत के भीतर छिपे रहनेवाले रहस्य के उद्घाटन के लिये है। यदि शरीर को केवल प्रकृति-प्रेरित कर्मों के व्यवहार में छोड़ दिया जाय और मन अपने क्षेत्र में ज्ञान की फसल तैयार करने में ही लग जाय तो मनुष्य-जीवन के बहुत से उलझनवाले प्रश्न उठें ही नहीं। किन्तु ऐसा कार्य-विभाग होकर नहीं रहता। मोटे तौर पर यह कह सकते हैं कि मनुष्य तीन प्रकार के कर्म करता है—केवल शरीर-प्रेरित, केवल मन-प्रेरित और उभयात्मक। भूख लगने पर हम भोजन करते हैं। यह प्रथम का एक मोटा उदाहरण है। दर्शन-शास्त्र का अध्ययन एवं ग्रहों की गति-विधि का अन्वेषण दूसरे का। और किसी दावत में खाई हुई मिठाई बड़ी ही स्वादिष्ट थी। अब घर पर आकर पुनः भूख लगने पर उस मिठाई के आस्वादन का फिर से आयोजन करना तीसरे का। अधिकतर मनुष्यों में इसी तीसरे प्रकार के कर्मों का प्राधान्य देखा जाता है। यह उभयात्मिका क्रिया ही सहज मानव धर्म है। परन्तु यह सङ्कल्प और वासनामूलक होने से बन्धन का भी कारण है।

मनुष्य का मन बाह्य विषयों की ओर सहज ही नहीं दौड़ता। बाह्य-विषयों के साथ प्रकृति-प्रेरित प्रथम संसर्ग से इन्द्रियों को जो सुख अनुभव होता है, उसकी वासना मन में लग जाती है और उसका

अकाल में ही अधिकाधिक तीव्रता के साथ पुनः आस्वादन करने के लिये मन व्यग्र हो जाता है और उन विषयों का चिन्तन करने लगता है। यह चिन्तन शरीर को उत्तेजित कर देता है और उत्तेजित शरीर पूर्ण वाष्प-पूरित इञ्जिन की तरह मन-बुद्धि सबको अपनी दिशा में बलात् खींच ले जाता है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥
(श्रीमद्भगवद्गीता २ अ० ६७ श्लोक)

इससे मन पर नवीन छाप लगती है और वह पुनः तदनुकूल चिन्तन और आयोजन में लग जाता है। यह बात स्थूल कर्म और वासनाओं पर जिस प्रकार लागू है, ऊँचे प्रकार के व्यसनों के सम्बन्ध पर भी उसी प्रकार घटती है। यह चक्र वट-बीजन्याय से चलता जाता है और मनुष्य अधिकाधिक बन्धनों में जकड़ता जाता है। इस चक्कर से बच निकलने के लिये तीन मार्ग निकाले गये। उन्हीं का ऊपर पशु, वीर और दिव्यभावों के नाम से उल्लेख हुआ है।

अब आइये देखें कि पशु-भाव से क्या अभिप्राय है। यह सिद्धान्त सर्वसम्मत है कि जैसे जहाँ आग है वहाँ धुआँ भी होगा, वैसे ही कर्म मात्र के साथ दोष लगे रहते हैं—

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृत्ताः
(गीता १८ अ० ४८ श्लो०)

फिर भी किसी कर्म में मनुष्य वा जीव को बाँधने या मुक्त करने की शक्ति नहीं है। बन्धन और मोक्ष मन के सवासनिक वा निर्वासनिक होने पर निर्भर हैं। जिस कर्म में हमारा मन फँसा रहता है, कर्तृत्वबुद्धि का अनुभव करता है वा दूसरे शब्दों में जो कर्म मन की प्रेरणा से होते हैं, वे ही बन्धन के कारण बनते हैं।

परन्तु जिस प्रकार हृदय की गति, रुधिर का प्रवाह और अन्यान्य स्वयं-प्रवृत्त शारीरिक क्रियायें हमको बाँध नहीं सकतीं, उसी प्रकार यदि मन को हटा लिया जाय और शरीर को पशुओं के समान केवल प्राकृतिक प्रेरणानुसार कर्म करने के लिये स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो ऐसी दशा में होनेवाले अन्य शारीरिक कर्म भी बन्धन के कारण नहीं हो सकेंगे क्योंकि 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (प्रकृति के गुण ही गुणों में कर्म करते हैं)। इस आदर्श पर चलनेवाला कल के लिये कुछ संग्रह नहीं करता, योग-क्षेम का विशेष आयोजन नहीं करता और जो प्राप्त हो जाय उसी से सन्तुष्ट रहता है। उसे दास वा सेवक और सहायक नहीं चाहिये। वह घर-गृहस्थी वा बाल-बच्चों का ध्यान त्याग देता है। वह उपस्थित सामग्री से, अपने हाथों से, अपने शरीर की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के परे कोई भी चेष्टा नहीं करता वा किसी बात का ध्यान नहीं आने देता। वह ऐसा कोई भी कर्म नहीं करता, जिसमें मन को बाहर निकलना पड़े और सङ्कल्पपूर्वक किसी भी कार्य को आरम्भ नहीं करता। वह मन को भगवान् के नाम-स्मरण, ध्यान वा गुण-कथन में लगाकर इन्द्रियों से अलग कर देता है। इस प्रकार—

निराशीर्यत चित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥

(गी० ४।२१)

जो आशारहित है, जिसका मन अपने वश में है और जिसने सारा संग्रह छोड़ दिया है, वह शरीर ही भर से कर्म करता हुआ कर्म के दोषों से बच जाता है।

ऐसी दशा में मन की प्रेरणा के अभाव में मानव शरीर की क्रियायें भी पशुवत् हो जाती हैं। इसीलिये इस भाव का नाम पशुभाव रखा गया है। सम्भवतः इसी भाव पर आधार रखकर वैष्णव आचारियों ने अपना आचार-व्यवहार बनाने की चेष्टा की थी। प्राचीन काल

के वाणप्रस्थ-ग्रहण की परिपाटी के मूल में भी ऐसी ही भावना शायद काम करती होगी। वन में स्त्री-पुत्रादि-सहित रहनेवाले वैदिक काल के ब्राह्मणों के सम्मुख भी जो आदर्श था, उसमें इसकी काफी छाया प्रतिबिम्बित होती है। इसको गीता-प्रतिपादित कर्मयोग के साथ मिला देना ठीक नहीं क्योंकि उनके जीवन में सांसारिक उन्नति के लिये शारीरिक उद्योग का बिलकुल अभाव देखा जायगा। संसार के कल्याणार्थ भी कर्म करना उचित है यह आदर्श उनकी दृष्टि के बाहर जान पड़ता है। और यही इस मार्ग की बड़ी कमजोरी है।

इन्द्रियों से मन का सम्बन्ध कुछ ऐसा नहीं है कि जब चाहा जाय, बिजली के संयोजक की तरह झट काट दिया जा सके। लाख प्रयत्न करने पर भी मन इन्द्रियों की ओर दौड़ता ही है और इन्द्रियाँ इससे प्रभावित होती ही हैं। ऐसी स्थिति में इन्द्रियों से केवल पशुधर्म का पालन कराते हुये यदि मन उनकी वासनाओं में लिप्त ही रह गया तो मनुष्य 'धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का' बन जाता है। मोक्ष तो पाने से रहा, इधर लौकिक सुख-सुविधा-सम्पादन के उद्योग की उपेक्षा कर भौतिक उन्नति से भी वंचित होना पड़ा। इसीलिये कहा गया है—

'कलौ न पशुभावोऽस्ति'।

(कलिकाल में 'पशु-भाव' नहीं है)

यहाँ एक बात समझने की है कि इस भाव का साधक इंद्रियों का दमन नहीं करता। वह मन को इन्द्रियों से हटा लेता है। इन्द्रियों में प्रकृति-प्रेरित समय-समय पर होनेवाली उत्तेजनाओं से वह उन्हें विमुख भी नहीं करता। वह केवल मन और इंद्रियों के बीच जो परस्पर आदान-प्रदान है, उसे बन्द कर देता है।

दिव्यभाव इसके विपरीत है। मन जब स्वभावतः ही शुद्ध हो जाता है, तभी द्वन्द्वों के रगड़े-झगड़े समाप्त हो जाते हैं। तब उसे अपने अन्तःकरण में ही इतना आनन्द मिलता है कि इन्द्रियजनित सुखों को

भूल जाता है। स्वप्न में भी साधक को उनका ध्यान नहीं आता। शरीर दिव्य-तेजोमय हो जाता है। इंद्रियाँ आप-से-आप अपनी वृत्ति से निवृत्त हो जाती हैं। उनके पशुधर्म का लोप हो जाता है। तब मनुष्य में जो पशु-भाव था, वह सहज ही मिट जाता है, उसे दिव्यता प्राप्त हो जाती है। इसीलिये यह भाव दिव्य-भाव है। ज्ञानमार्ग का यही आदर्श है। वह एक बार में ही अन्तर्दृष्टि द्वारा अपने दिव्य-रूप को देखकर आनन्दमय हो जाना चाहता है। वह बाहर से इंद्रियों को एक-एक विषय से विरत करने वा विधि-निषेध के झगड़े में पड़ने की जरूरत नहीं मानता। दिव्यभावापन्न पुरुष का शरीर भी दिव्य बन जाता है। उसकी चेष्टायें और आवश्यकतायें स्वभावतः ही बदल जाती हैं। तब इंद्रिय-संयम और निरोध का प्रश्न ही नहीं उठता।

दिव्यश्च देवताप्रायः शुद्धान्तःकरणः सदा।
द्वन्द्वातीतो वीतरागः सर्वभूतसमःक्षमी॥

दिव्यभाव का साधक देवता-तुल्य होता है, उसका अन्तःकरण सहज ही सदा शुद्ध रहता है। वह सुख-दुःख, राग-द्वेष, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों से परे और समदर्शी हो जाता है।

लेकिन यह भाव हिमालय के उत्तुङ्ग हिमश्रृङ्ग पर चढ़ने से भी दुर्गम है। जब पशुभाव का निर्वाह ही आजकल के लिये असम्भव है तो 'दिव्य-भावो कथं भवेत्' (दिव्य-भाव कैसे होवे?) पर आना ही पड़ता है। इसीलिये मध्यवर्ती मार्ग की आवश्यकता हुई। वही है वीरभाव।

वीरभाव में मनुष्य के दोनों अङ्गों का, बाह्य और अन्तःशक्तियों का सामंजस्य कराया गया है। प्रकृत मनुष्य जिस मार्ग से कर्म करता है, उसी पर इस भाव का आधार है। केवल वह जिस प्रवाह में बहा जा रहा है, जिस दिशा में प्रवृत्त है, वह उसे अवनति के गहन गर्त में डालनेवाली है। वह आसुर-भाव है। यहाँ वीर की तरह साहसपूर्वक इस

प्रवाह को उलट देने, उसकी दिशा को बदल डालने से ही इस भाव का नाम वीर-भाव पड़ा है।

इस संसृति-जाल में जो कुछ भी है, उसमें एक उसी मा की सत्ता को देखने की सतत चेष्टा करना, अपने जीवन को उसी के द्वारा नियंत्रित और नियोजित समझना और उसके श्रीचरणों पर तन-मन को सहज ही अर्पित मानना, संसार जिसे 'अ-शिव' कहता है—उसमें भी उसी 'शिवा' की पुनीत झाँकी देखना, और इस प्रकार इस निरानन्द जड़ मृत्युलोक को सत्-चित्-आनन्द-मूल परमशिव का निवास बना डालना ही इस वीरभाव की मनोरम कल्पना का कल्याणमय ध्येय है। जो विषय-विकार मनुष्य को पतित करने के कारण अतएव त्याज्य माने जाते हैं, उनसे भी घबराना नहीं; उन्हें भी उसी महामहिमामयी महामाया के 'अनुभाव' मात्र मानकर 'शव' को 'शिवता' देनेवाले मा के पुनीत पादपद्मों पर निवेदित कर देना और इस प्रकार 'विषय-वारुणी' को 'परानन्दरसामृत' में परिवर्तित कर डालना इस अभिनव वीर-भाव के सुदृढ़ साधक का लक्ष्य होता है। वह न तो कुछ भोगने जाता है और न कुछ त्यागता ही है। वीर साधक का अपना कुछ होता ही नहीं है। उसका तो सतत मन्त्रोच्चार यही है कि—

सर्वरूपमयी देवी, सर्वदेवीमयं जगत्।
अतोऽहं विश्वरूपां त्वां, नतोऽस्मि परमेश्वरी॥

हे मा, सब रूपों में तुम हो, सारा जगत ही तुमसे ओत-प्रोत है। इसलिये तुम परमेश्वरी भी हो और विश्वरूपा भी हो। इसी विश्व-व्यापिनी रूप से मैं तुम्हें बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

—: × :—

पञ्चमकार

महामाया की उपासना दक्षिण और वाम दोनों से ही प्रचलित होने पर वामाचारी वा वाममार्गी उपासकों का आग्रह देखा जाता है कि मा की पूजा पंचमकार की प्रत्यक्ष योजना के बिना फलप्रद नहीं हो सकती। कुछ लोग तो इससे भी आगे बढ़कर यहाँ तक घोषणा करते सुने गये हैं कि पंचमकार के बिना की गई पूजा पूजक के लिए उसी प्रकार अनिष्टकर होती है, जैसे अंग-हीन यज्ञ यजमान के लिए घातक होता है। एक दृष्टि से यह तुलना तुलनामात्र नहीं है। वैदिक यज्ञों के पशु-मेध और सोमपान का एक रूपान्तर मात्र मांस और मद्य-अर्पण की तांत्रिक विधि में बहुतों को दिखाई दे तो आश्चर्य नहीं।

जो हो, हम देखते हैं कि एक ओर जैसा इसके सम्बन्ध में आग्रह है, दूसरी ओर इसका वैसा विरोध भी करनेवाले पुराने समय से चले आते हैं। इसलिए इसका थोड़ा विवेचन निष्पक्ष भाव से करने की जरूरत जान पड़ती है।

पंचमकार से अभिप्रेत क्या ?—मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन। संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि मनुष्य जिसे सामान्यत: जीवन की सुख-सामग्री मानता आया है। जंगली हो या सभ्य सब देशों के मानव-समाज में किसी-न-किसी रूप में उत्तेजक पेयों का व्यवहार और मांस-मछली का भोजन सुखद और उपादेय माना जाता है। मैथुनी सृष्टि तो मानव समाज की है ही।

इन बातों की अभिलाषा को सामान्य मानव का स्वभावगत-धर्म समझकर ही भगवान् मनु ने लिखा है कि—

'न मांसभक्षणे दोषो, न च मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां'

'न मांस खाने में दोष मानना चाहिए, न मद्य में, न मैथुन में, क्यों ? इसलिए कि यह भूतों (प्राणियों) की सहज प्रवृत्ति है।' तब 'निग्रहस्तु महाफलः'—हाँ, इनके निग्रह में महाफल है। जो अपने मन को इनके आकर्षण से मुक्त कर ले, उस वीर के आगे जगज्जयी भी तुच्छातितुच्छ है। वह तो प्रकृति के बन्धन से उठकर परमात्मभाव की प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है। इसलिए जो वामाचारी मांस, मदिरा तथा शक्ति के सहित देवी की आराधना करते हैं, वे कोई अ-स्वाभाविक बात थोड़े ही करते हैं। सामान्य मनुष्य जिन वस्तुओं को अपने इस सांसारिक जीवन को सुख और सार्थकता देनेवाला मानता है, वाममार्गी उन-उन वस्तुओं से ही घट-घटपालिनी जगन्मयी की अर्चना करता है। शबरी ने भगवान् के लिए मीठे-मीठे बेर चख-चखकर इकट्ठे किये और भगवान् ने उन्हें सराह-सराहकर खाया—इसलिए कि शबरी को यह भान ही नहीं था कि ये बेर जूठे हो रहे हैं; जो उसे मीठे लगे, उन्हें उसने भगवान् के लिए रख छोड़ा।

सुख-दुख, प्रिय-अप्रिय एवं त्याग और भोग के द्वन्द्वों के थपेड़े खानेवाला मानव भगवान् की अर्चना और कर ही कैसे सकता है; उसके लिए एक ही मार्ग है कि जो उसको सर्वोपरि प्रिय है, वह अपने परम प्रियतम परमात्मदेव को अर्पण करे और जब उनको अर्पण कर ले तब स्वयं उन-उन वस्तुओं को उनके प्रसादरूप में ग्रहण करे। तभी तो भगवान् ने खोलकर कहा है—

'यत् करोसि, यद् अश्नासि, यद् जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥'

जो भी करो, जो कुछ खाओ-पियो, जो हवन करो, जो दान-तप करो, सब मुझको अर्पण करो। तो होगा क्या ?—

'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैस्यसि॥'

इस प्रकार करते हुए तुम शुभाशुभ कर्मों के बन्धन से छूटकर संन्यास एवं योग से युक्त हो विमुक्त हो जाओगे और मुझे प्राप्त करोगे।

अर्थात् सरल सहज निश्चिन्त बुद्धि से भगवान् को अपने नित्य-कर्मों को अर्पण करनेवाला समय पाकर संन्यासयोगयुक्त हो जाता है। भगवान् को अर्पण करना है, इसलिए प्रस्तुत करना है। स्वयं अपने लिए कुछ भी भोग-सामग्री इकट्ठी करनी नहीं, यह भाव आया तो विषयों से उपरति अपने-आप होने लग गई। फिर भगवान् के गुणों का ध्यान जितना ही चित्त में खचित होता गया, उतना ही स्थूल भोग के बदले भगवान् को सूक्ष्म मानसिक भावों के उपकरणों से अर्चित करने की प्रवृत्ति अपने आप होने लगी। यही है वह कुञ्जी, जिसके बिना ऊपर चढ़ने का द्वार खुलता नहीं है।

'ददाति प्रतिगृह्णाति नान्यथैषा प्रसिध्यति'

भगवान् को अर्पण किये बिना जो ग्रहण करता है, उसे सिद्धि नहीं मिलती। इसीलिए ईशोपनिषद् में कहा है—

'तेन त्यक्तेन भुंजीथा:'

सब कुछ भगवान् का ही है—ब्रह्मय है; उसका है, यह समझकर भोग करो (क्योंकि शरीर तो भोग किये बिना जी नहीं सकता है)। अपना अधिकार उस पर मत मानो, भगवान् के प्रसादरूप ही विषयों का भी सेवन करो।

इस प्रकार पहले अपने लिए भोग-सामग्री इकट्ठी करने की भावना छूटी, फिर मन में सन्तोष हुआ और सात्विकता बढ़ी तो आहार भी शुद्धतर प्रिय लगने लगा; फिर जीवन-धारण मात्र के लिए ही, धर्ममार्ग से प्राप्त विषयों से ही सन्तोष होने लगा। उत्तेजक पदार्थ अनावश्यक लगने लगे; मांसादि भी स्वयं छूट पड़े; मैथुन भी मृत्यु का मार्ग दिखाई देने लगा। तब भगवान् को कौन अर्पित करे ये भद्दे भोग। तब तो 'भावगोचरा' भगवती की अर्चना 'भाव-पुष्पों' से ही

करना साधक को प्रिय लगता है, सुन्दर-से-सुन्दर फूल भी उसे जगज्जननी को अर्पित करते हिचक होती है। अगर की बत्तियाँ कौन जलावे?—प्राणों के धूप, अनाहतध्वनि का घंटा, आकाशतत्व के वस्त्र, तेजस्तत्व के दीप बनाकर वह जगदम्बिका की ऐसी पूजा करता है, जिसके आगे बड़े-बड़े लक्ष्मीवान् की पूजा फीकी पड़ जाती है। काम-क्रोध, पाप-पुण्यरूपी पशुओं की बलि देकर जगदम्बिका के चरणाम्बुजों के प्रेमामृत का पान उसका मन-भृङ्ग निर्द्वन्द्व करने लगता है।

ऐसी यह शिवोक्त साधन-सरणि है! इसमें त्याग और भोग का झगड़ा कहाँ?

'श्रीसुन्दरीपूजनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव'

यहाँ भोग और मोक्ष मानो साधक के आगे परोसे रखे हैं। तात्पर्य यह कि जगन्मयी का भक्त न भोग को छोड़ता है और न मोक्ष को ढूँढ़ता है, वह तो अपना सब कुछ जगदम्बा को अर्पण कर उसका प्रसाद ग्रहण करने मात्र में सन्तुष्ट रहता है। इसलिए त्याग का कष्ट उसे छूता नहीं, भोग से भी बढ़ा हुआ आनन्द वह प्रसाद में पाता है और अन्त में उसके चरणाम्बुजों में ही लीन भी हो जाता है।

इस तरह देखें तो सारा चित्र ही बदल जाता है। आग्रह और विरोध की गुञ्जाइश कहाँ? दोनों एक प्रकार की नासमझी के फल हैं।

विषय त्यागने से छूटते कब हैं? युग-युग का अनुभव है कि विषयों से भागो तो वह और भी पीछे पड़ जाते हैं। वे तो छूटते हैं तभी जब मन को कुछ और रस लग जाय 'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' तान्त्रिक उपासक भोगसा-मग्रियों का संग्रह भोगने के लिए थोड़े ही करता है, वह तो इसलिए उनके द्वारा जगन्मयी की अर्चना करता है कि उन-उन सामग्रियों में उसकी विषय-भोग की भद्दी दृष्टि ही न रहे। मदिरा देखकर कारण आदि का ध्यान उसे होता है और स्त्री को देखकर उसे जगज्जननी का स्मरण होता है। मांस, मत्स्य और मुद्रा-

राशि उसे पंच महाभूतों की याद दिलाते हैं जो महाकाल के द्वारा नित्य कवलित हो रहे हैं।

शिव की जो पूजा पाषाण-लिंग में होती है, इसमें केवल भक्त की भावना ही नहीं है। पाषाण को पूजते हुए हम यह याद करें कि जो शुद्ध सत्व स्वरूप परमचैतन्य परमात्मदेव है, वही स्वेच्छा से निरा जड़ पत्थर बना है। इस तत्व को याद कराने का गुण उसमें है इसलिए वह शिवलिंग—शिव का चिह्न-विशेष—कहलाता है। इसीलिए शिव की पूजा या तो पाषाण या मृत्तिका में ही प्रशस्त है। ऊर्ध्व में जो परमचैतन्य महाशिव हैं, वही अधोभाग में जड़, मिट्टी या पत्थर का ढेला बन गये हैं—यह उनकी अज्ञेय अभिलाषा है। बीच में परमा प्रकृति वा महामाया हैं, जो उनकी इस अचिन्त्य अभिलाषा को चरितार्थ करने के लिए अपनी शक्ति-लीला फैलाती और समेटती रहती हैं।

मांस भी वही है और मांसाशी भी वही है। मद्य भी वही और उसको पीकर उन्मत्त होनेवाला भी वही है। पुरुष भी वही है और स्त्री भी वही है। अन्न भी वही है और अन्न का खानेवाला भी वही है। स्वर भी वही है और सुननेवाला भी वही है। इस तत्व को मनुष्य नहीं जानते हैं, इसीलिए बारम्बार मृत्यु के मुँह में पड़ते रहते हैं।

मनुष्य सामान्यतः भागवत् सम्बन्ध उन्हीं वस्तुओं में मानता है, जिसे उसका मन शुभ, पवित्र और सुखकर पाता है! श्मशान को अशुभ या अपवित्र मानने का कारण तो इतना ही है न कि हम मृत्यु से भय खाते हैं। भोग में पड़कर हम अपने आप पर काबू रख नहीं पाते हैं और परिणाम में दुःख उठाते हैं। इसलिये विषयों के त्याग में ही भगवत् भाव मानते हैं और विषय-भोग की याद दिलानेवाली वस्तुओं को अपवित्र मानते हैं। यही कारण हुआ कि 'योनि' और 'लिंग' के साथ लज्जा की भावना लग गई। तो भगवान् ने क्या यह नहीं कहा है कि—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां योनिर्महद्ब्रह्म अहं बीजप्रदः पिता॥

जितने भी प्राणी हैं, उन सबका बीज-दाता पिता मैं हूँ और उनका गर्भस्थान महद्ब्रह्म वा परमा प्रकृति है। यही बात स्वाद, गन्ध आदि के सम्बन्ध में भी है। ऐसे में वास्तविक तत्व तो यही है कि भक्त को जो प्रिय है, वह भगवान् को भी प्रिय लगता है। पर उसी के साथ यह भी है कि जो भक्त को त्याज्य जान पड़ने लगे, वह उसके भगवान् को भी अग्राह्य होगा क्योंकि उसमें जो त्याग की भावना उत्पन्न होती है, वह भी भगवान् की ही प्रेरणा है। भगवान् भोग और त्याग दोनों में हैं और दोनों से परे हैं। भक्त को भी भोग और त्याग दोनों प्रकार से समयानुसार भगवान् की अर्चना करते हुये अन्त में दोनों के परे पहुँचना है।

इसलिये जैसे एक ओर अमुकामुक उपकरणों द्वारा भगवान् या परमेश्वरी का अर्चन करने का निषेध करना अयुक्त जान पड़ता है उसी प्रकार किन्हीं उपकरणों या उपचारों के बिना दिव्य-अर्चना सफल नहीं होगी, ऐसा आग्रह भी अग्राह्य लगता है।

सोचिये तो, जगन्मयी मा को हम क्या दें? हमारे पास "हमारी अपनी" कही जाने योग्य कौन सी वस्तु है! शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—इनमें से कोई भी तो हमारा—हमारे अधीन, हमारा पैदा किया हुआ, हमारे द्वारा पालित और सम्वर्द्धित नहीं है। फिर हम उसे क्या देंगे? उसे किस वस्तु का अभाव है, जिसे पाकर वह प्रसन्न होगी? कौन सा रस है, जिसका स्वाद वह हर क्षण नहीं ले रही है—एक नहीं अनन्त जीभों से? अनन्त योनियों में प्रवेश कर अनन्त दुःख, सुख के भोग वही तो भोगती है और उन-उन योनियों के विषयानन्द का रस भी तो वही लेती है न? तो फिर उसे क्या लेना और हमें क्या देना रहा! यह सब तो एक भावना का खेल मात्र है। उससे सम्बन्ध जोड़ने के लिए हम उसके साथ भौतिक सम्बन्ध-सा कल्पित कर लेते हैं।

विचारों और भावनाओं का विकास और रूपान्तर समाज में भी होता है और व्यक्ति में भी। कभी मनुष्य-समाज में माता, बहिन

और स्त्री में कोई भेद नहीं माना जाता था—अन्यान्य पशुओं की तरह यहाँ भी स्वच्छन्दता थी। परन्तु क्रम-क्रम से कोमलतर भावनाओं का प्रवेश हुआ और माता तथा स्त्री का भेद भूलनेवाले मनुष्य की गिनती 'पिशाचों' में होने लगी। उधर व्यक्तिगत जीवन में भी भावना समयानुसार कैसे बदलती है, यह दर्शनीय है। माता का भाव और व्यवहार अपनी सन्तान की आयु के साथ-साथ बदलता जाता है और पुत्र या पुत्री की भी भावना अपने माता-पिता के प्रति अवस्थानुसार बदलती जाती है। देखिये, छोटा बच्चा अपने मुँह का कौर मा के मुख में कितने प्रेम और आनन्द के साथ डाला करता है और मा भी कितना प्रसन्न होती है? परन्तु वही सन्तान जब बड़ी उमर की हो जाती है तब यह व्यवहार क्या शोभा देगा? तब उसी मा का सत्कार वह ऐसे रूप में ही कर सकती है, जो उसकी अवस्था की भावना और योग्यता के अनुरूप हो। उस समय शायद उसकी वृद्धा मा भी सोचती होगी, हमारा लड़का हमको तीर्थाटन करायेगा या कहीं एकान्त-सेवन करने की सुविधा कर देगा। अथवा वह इसी में प्रसन्नता मानेगी कि वह लड़का अपना प्रेम अपनी स्त्री और बाल-बच्चों पर देकर उनका समुचित लालन-पालन करे और वह स्वयं अपने कुल को बढ़ता हुआ देखे।

ऐसी ही कुछ बात भक्त और भगवान् के बीच होती है। भक्त की भावना में भी नित्य प्रगति होती है—बल्कि होनी ही चाहिए। साधक यदि जागरूक है, उसकी बुद्धि भगवत् प्रेरणा के लिए लालायित है तो भगवान् और उनके प्रति उसकी कर्तव्य की कल्पना में नित्य विकास होना अनिवार्य है। यदि ऐसा नहीं हो, तो मानना चाहिए कि कहीं कोई भारी भूल उससे हो रही है।

मनुष्य भगवान् को अपने साँचे में ही ढाल लेता है? असली बात यह है कि अन्यथा कर ही नहीं सकता है। उसकी श्रद्धा की उड़ान जहाँ तक है, वहाँ तक ही वह जा सकता है और उसकी श्रद्धा

तो उसके अनुरूप ही होती है। वास्तव में भगवान् की अर्चना करना तो तभी सम्भव है जब कि वह स्वयं ही भगवान् बन जाय—

'देवो भूत्वा देवं यजेत्'

कुण्डलिनी शक्ति के जागरण करने का रहस्य भी तो यही है कि अपने अन्तर में सुप्त दैवी शक्ति को प्रत्यक्ष क्रियाशील बनाया जाय। और दैनिक पूजन-विधि में भूतशुद्धि, न्यास आदि की जो सारी प्रक्रिया तान्त्रिक-प्रणाली में होती है, उसका अभिप्राय भी यही है। मानव मात्र, नहीं नहीं, प्राणी मात्र वा भूत मात्र में अन्तर्निहित जो दिव्यता है, उसे प्रकट करना ही तो सभी अर्चन-पूजन, भजन, ध्यान, जप आदि का उद्देश्य है। दैनिक साधन, यजन और भजन-कीर्तन के फलस्वरूप साधक की भावना जैसे जैसे उच्चतर होती जाती है, उसके उपास्य भी वैसे वैसे निकटतर होते जाते हैं और उपासक तथा उपास्य दोनों का रूपान्तर-सा होता जाता है। वस्तुतः ऐसा होता है, यह अभिप्राय नहीं है क्योंकि उपास्य और उपासक दोनों ही एक और गुणातीत हैं—ऐसा परिवर्तन होता हुआ साधक तथा उसके आस-पास के लोगों को प्रतीत होता है, इतना ही अभिप्रेत है।

स्थूल पदार्थ स्थूल मूर्ति पर चढ़ाने मात्र से अर्चना सम्पन्न नहीं होती। मूर्ति चैतन्यमयी है, यह भावना लाने के लिये जिस प्रकार प्राणप्रतिष्ठा की जाती है, उसी प्रकार पूजा के द्रव्यों का संस्कार भी क्या करना नहीं होता है? यह इसीलिये तो कि 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन' (सब कुछ चैतन्यरूप ही है) की भावना दृढ़तर होती जाय? इसलिये दुर्गा का पूजन मृण्मयी मूर्ति, श्रीफल एवं कुमारी तीनों में ही किया जाता है ताकि जड़ मिट्टी, सजीव वृक्ष और चैतन्यमय मानव तीनों में ही उसी की लीला साधक देख सके।

इसी तरह साधक स्वयं अपने आपमें भी जगदम्बा को ही देखने की चेष्टा करता है। और पञ्चमकारों की योजना भी इसीलिये

है कि पञ्चभूतों में तथा पञ्चेन्द्रियों के ग्राह्य विषयों में वही चैतन्य देखा जा सके। गङ्गाजल में दिव्य भावना सहज में आती है परन्तु लोकसमाज में निन्दित मदिरा भी दिव्य चैतन्यमयी है—यह भावना हुये बिना दिव्य दर्शन तो होनेवाला नहीं है। परन्तु मदिरा ही चाहिये, सामान्य जल वा दूध नहीं, ऐसा आग्रह जहाँ हो, वहाँ भी तो बुद्धिभेद ही के कारण ऐसा होता है, यह मानना चाहिये। स्थूल पञ्चमकार तो उपर्युक्त शिवलिंग की तरह पञ्च महाभूतों के प्रतीक मात्र हैं। भक्ति में जो विभोर है, उसे स्थूल योजना करने की फुरसत कहाँ? वह तो विधि-विधान को भूल कर अपनी ही भावना से परिचालित होता है।

परन्तु यह उच्चतर भूमिका की बात हुई। निम्नतर सामान्य भूमिका पर जो हैं, उन्हें पूजा-अर्चा विधिवत् तो करनी ही पड़ती है पर वहाँ भी अपने अपने संस्कार और श्रद्धा के अनुसार भेद तो होगा ही। तभी तो शास्त्रों में अनुकल्पों की व्यवस्था है। जैसे, महानिर्वाण तन्त्र में कहा है—'गृहकर्म में आसक्त गृहस्थों के लिये प्रबल कलि में आद्य तत्व (मदिरा) के स्थान पर मधुर-त्रय, (दुग्ध, मदिरा, मधु) की व्यवस्था कर्तव्य है।

इसी तरह पशुबलि के सम्बन्ध में अधिकार-भेद से कहीं कूष्माण्डादि की अनुकल्प बलि की व्यवस्था है तो कहीं 'अपने ही गात्र का रुधिर' (सुरथ और समाधि की तरह) देने की बात है। फिर बलि देने में यों तो 'नर, महिष, मेष, उष्ट्र, छाग' आदि सबका उल्लेख है परन्तु व्यवहार में छागबलि की ही प्रधानता रह गई है। इसका कारण एकमात्र यही जान पड़ता है कि छाग का मांस ही मुख्यतः समाज में व्यवहृत होता है। वैदिक यज्ञ-यागादि का एक ऐसा भी समय था जब गोमेध की बेहद प्रधानता थी परन्तु आज हमारे समाज में इसके विरुद्ध इतनी प्रबल भावना हो गई है कि हम ऐसी घटना को सच्ची मानना नहीं चाहते हैं।

पञ्चम तत्व के सम्बन्ध में भी सामान्यतः साधक-सम्प्रदाय में मतैक्य नहीं है। प्रचलित प्रथा अधिकतर तो यही है कि चक्रार्चन में पञ्चम तत्व के स्थान पर स्तोत्रपाठ और प्रकृति-पुरुष के सामरस्य की भावना से काम लिया जाता है क्योंकि वास्तविक अभिप्राय प्रकृति-पुरुष की एकरूपता को हृदयंगम करना ही तो है। सिद्धि केवल मन्त्रोच्चारपूर्वक शक्ति ग्रहण करने में नहीं है। और न मद्य, मांसादिक के पानादि से ही सिद्धि हो सकती है। सिद्धि तो इतने में है कि हमारी दृष्टि इतनी विमल हो जाय कि शक्ति मात्र (यहाँ तक कि स्वकीया पत्नी) को देखते ही जगत्-प्रसविनी आद्याशक्ति का ध्यान हो जाय और मद्य-मांस क्या—अन्न-पानादि आहार मात्र को देखकर पञ्च महाभूतों में ध्यान लग जाय। यह न हो तो हर एक शराब की दूकान मुक्ति देने में विश्वनाथ काशी को भी मात करने लग जाती। प्रमाण की कमी क्या है ?—

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत् पतति न भूतले।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते !

शब्दार्थ लें तो शराब-ताड़ी पी-पीकर नाली में गिरनेवालों को हाजत में पहुँचने के बदले शिवलोक ही में जाना चाहिये था परन्तु शब्दार्थ मात्र ग्रहण करने का आग्रह ऐसे स्थलों पर तो कोई दुराग्रही ही कर सकता है।

तन्त्रग्रन्थों में तथा बहुत से स्तोत्रों में एक नहीं अनेक ऐसे स्थल मिलेंगे जहाँ सतर्कतापूर्वक अर्थ न किया जाय तो अनर्थ में ही पड़ना पड़ेगा। ऐसे स्थलों के उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। जो थोड़ा भी इस विषय का परिचय रखनेवाले हैं, वे ऐसे अनेक प्रचलित वाक्य जानते होंगे। ग्राम्य भाषा के भीतर उच्च आध्यात्मिक भाव को छिपाने की परिपाटी तन्त्रग्रन्थों में तो है ही, अन्यान्य सम्प्रदायों तथा साधु-सन्तों के वचनों में भी जगह-जगह देखी जायगी।

परन्तु एक और भेद हमारी समझ में ऐसा है, जिस पर ध्यान रखकर ही तन्त्रग्रन्थों का पाठ करना चाहिए। हमारा कहना यह है कि बहुत से प्रसंगों का वर्णन जो विभिन्न स्थानों में आया है, वह साधना की एक काल्पनिक अवस्था दिखाने भर के लिए है न कि इसलिए कि साधक तुरन्त सिद्ध हो जाने के लोभ में वैसा करने ही लग जाय। जैसे कहीं ऐसा भी लिखा है—

'व्यवायाव्यासक्तो यदि जपति भक्तस्तवमनुम्।'

अर्थात्—यदि तुम्हारा भक्त व्यवाय (मैथुन) में रत होता हुआ भी तुम्हारा मन्त्र इतने लक्ष जपे तो अमुकामुक फल उसे प्राप्त होगा। यदि हम इसका आध्यात्मिक भाव लें अर्थात् 'कुण्डलिनी शक्ति को ब्रह्मरंध्र-स्थित परम पुरुष से संयोग कराता हुआ साधक समाधि की अवस्था में तुम्हारा जप करे' तो कोई कठिनाई नहीं होती। परन्तु यदि शब्दार्थ लें तब तो यही कहना उचित जान पड़ता है कि यह साधना का मार्ग नहीं है, ध्यान की अविचल धारा कैसी हो, यह दिखाने मात्र के लिए एक कल्पित चित्र मात्र है। अर्थात् साधक जप में ऐसा तद्गत हो कि शरीर उसका व्यवायासक्त भी हो तो उसके जप की धारा भंग न हो। जैसे राजा जनक के सम्बन्ध में वर्णन है कि उनका एक पैर जलते घी में डाला रहता और दूसरे को उनकी रानियाँ दबाती रहतीं—ऐसी अवस्था में बैठकर वे राज-काज किया करते। अब इस वर्णन को पढ़कर कोई यह समझ ले कि एक पैर उबलते तेल में और दूसरा स्त्रियों की गोद में रखने मात्र से विदेह हुआ जा सकता है और तदनुसार करने की चेष्टा करे तो आप उसे क्या कहेंगे? ऐसी ही कुछ बात बहुत से प्रसंगों के सम्बन्ध में हमारे मन में आती है। लगता है कि यह सब वर्णन अधिकांश में इस बात को दिखाने के लिये लिखे गये हैं कि संसारी कर्म में रह कर भी साधक को अपने मन को कितना निर्लिप्त, स्वाधीन, निर्विकार और मातृचरणाम्बुज में तल्लीन रखना

चाहिए और यह भी कि जब उसका मन इतना निर्विकार और मातृ-ध्यान-परायण हो जाय कि यदि उसके शरीर को व्यवायासक्त अवस्था में भी डाल दिया जाय तो उसके जप-ध्यान की धारा टूटे नहीं तभी वह शिवतुल्य होगा—शिवत्व प्राप्त करने के लिए शिव की तरह ही साधक को सहज रूप से कामारि बन जाना होगा। जिस प्रकार भगवान् शिव के अर्द्धांगांग में जगन्मोहिनी महामाया के रहते भी वे सहज कामनाशून्य हैं—वैसे ही साधक को सहज आत्मजयी होना होगा। यह साधन की चूड़ान्त अवस्था दिखाने के लिए एक काल्पनिक चित्र है। इसको सिद्धि पाने का सहज रास्ता मानने की भूल करना उचित नहीं होगा।

कितने लोग इसी प्रकार मसान जगाने जाकर पागल हो जाते हैं। चिन्मयी की उपासना तब तक सिद्ध नहीं हो सकती जब तक शव में शिवरूप दीखने न लग जाय परन्तु किसी शव को श्मशान में पूजने मात्र से ही वह दृष्टि प्राप्त हो जाय, ऐसी बात नहीं है। नित्य पाषाण-लिंग की पूजा करते हुए भी जब सब कुछ शिवमय नहीं दीखता है तब शव के ही पूजन से शिवत्व प्राप्त हो जाय, ऐसी बात नहीं। चिन्मयी की अर्चना करते-करते जब चैतन्य-दर्शन का क्षेत्र बढ़ने लगता है तब एक सोपान यह भी होता है कि शव शिवरूप दीख पड़े। उस समय उस दर्शन के कारण साधक स्वतः शव की पूजा में प्रवृत्त हो जाता है।

इसे इस प्रकार समझने की चेष्टा करें। सामान्यतः जब मसजिद में अजान पड़ती है या गिरजाघर का घण्टा बजता है तो साधारण लोग हँस पड़ते हैं जैसे कोई अजीब नासमझी की बात होती हो परन्तु परमहंस श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में प्रसिद्धि है कि अजान या घण्टा सुनते ही वे प्रेम-विभोर हो ताली देकर नाचने लगते थे अर्थात् उन्हें उस अजान या घण्टा-ध्वनि से भगवद्भजन का समय हुआ, यह स्मरण हो आता था। परन्तु घण्टा-ध्वनि या अजान सुनकर यदि हम भी नाचने लगें तो इतने से ही उनकी सी सिद्ध अवस्था हमको मिल

जायगी ! वह अवस्था तो सर्व-धर्म-समन्वय की भावना के क्रम-क्रम से हृदयंगम करने से आवेगी। कितने दिनों में—यह कौन कहे !

कहते हैं, सब साधनों की समाप्ति कर चुकने पर परमहंसदेव ने एक दिन अपनी धर्मपत्नी की जगज्जननी-रूप से प्रत्यक्ष पूजा की थी। यह उनकी साधना की परम सिद्धि थी। पत्नी भी जगन्मयी-रूप दिखने लगी—इससे बढ़कर क्या चाहिए !

परन्तु इसको क्या इस तरह उलट देना समुचित माना जायगा कि पत्नी की पूजा करने मात्र से उनकी-सी सिद्धि प्राप्त हो जायगी ? याद रखना चाहिए कि उक्त पूजन के वर्षों पहले से ही उनकी दृष्टि इतनी निर्मल हो चुकी थी कि एक बार जब कुछ शंकाशील व्यक्ति परीक्षार्थ उन्हें वेश्याओं के पास ले गये तो उनके रूप-माधुर्य को देखकर वे जगज्जननी की रूप माधुरी में तल्लीन होकर समाधिस्थ ही हो गये थे।

तन्त्र के प्रयोगों में जो खतरा बताया जाता है, वह वास्तव में ऐसे ही उल्टे भावों के कारण होता जान पड़ता है। चित्त की शुद्धि एक दिन में होनेवाली चीज नहीं है। भावना करते-करते जैसे-जैसे जगज्जननी के भक्ति-रस का आनन्द मन-भृङ्ग को लगता जाता है, वैसे-वैसे वह आप-से-आप ऊपर उठता जाता है। उसे त्यागना कुछ भी नहीं पड़ता। किसी से भय नहीं; किसी से घृणा नहीं। कोई त्याज्य नहीं, कोई ग्राह्य नहीं। उसके एक हाथ में छिन्न मुंड और खड्ग है तो दूसरे में वराभय भी तो है।

मनुष्य स्वभावतः ही विषयासक्त है। वह सोचता है—बिना विषयों को त्यागे संसार सागर से मेरा निस्तार होगा क्या ? मा कहती है—"त्यागने के फेर में मत पड़ो। मेरी अर्चना में लगा दो उन विषयों को। बस वे विष से अमृतरूप बन जायँगे। मैं ही तो पंचभूतात्मक सृष्टि में समाई हुई हूँ और सत, रज, तम भी मैं ही हूँ। मेरी आराधना में किसी वस्तु से द्वेष कर्त्तव्य नहीं है। जो तुम्हें प्रिय है, वही मुझे अर्पण करो !" उतावली क्या है ? मा है, तो सब ठीक है। केवल

उसका चरणाश्रय छूटने न पावे। भक्तप्रवर कविरंजन श्री रामप्रसाद सेन की यह अमर रागिनी हृदय में गूँजती रहे—

ओ रे मन, भजो काली, इच्छा हये जेई आचारे।
मुखे गुरुदत्त मन्त्र करो, दिवा निशि जप करे!!
शयने प्रणाम ज्ञान, निद्राय करो मा के ध्यान।
ओ रे नगरे फिरो मने करो प्रदक्षिणा श्यामा मा रे॥
जतो शोनो कर्णपुटे, सकलि मायेर मन्त्र बटे।
काली पञ्चाशत वर्णमयी, वर्णे वर्णे नाम धरे॥
कौतुके 'रामप्रसाद' रटे, ब्रह्ममयी सर्व घटे।
ओ रे, आहार करो मने करे, आहुति देई श्यामा मा रे॥

जिस आचार से रुचि हो, मा की अर्चना करो, कोई कैद नहीं! गुरु ने जो नाम बता दिया, उसे रात-दिन रटते रहो। शयन में साष्टांग प्रणाम की भावना, नींद में उसके ध्यान की भावना और भ्रमण में उसकी प्रदक्षिणा की भावना रहे। जो कुछ भी इन कानों से सुनते हो, वह सभी तो उसके ही मन्त्र हैं। वह तो वर्णमयी ठहरी, अक्षर-अक्षर उसके नाम हैं। कुतूहलपूर्वक 'रामप्रसाद' कहता है, अजी वह घट घट में विराजमान है, तो क्यों न समझें कि जो कुछ तुम खाते हो, वह उस जगन्मयी के मुँह में पड़नेवाली आहुतियाँ ही हैं।

केन्द्र-विन्दु

—"अयस्पर्शे लग्नं सपदि लभते हेमपदवीं,
यथा रथ्या पाथः शुचि भवति गङ्गौघमिलितम्।
तथा तत्तत्पापैरतिमलिनमन्तर्मम यदि,
त्वयि प्रेम्णासक्तं कथमिव न विमलम्?"
—सौन्दर्यलहरी

—"पुराणे शुनेछि आमि, पतित पावनि तुमि,
ए बार तोमार भार तार।..................!"
—श्री रामप्रसाद सेन

मातृ उपासना को शास्त्रों में अक्सर 'प्रकृति-उपासना' का नाम दिया गया है। यह ब्रह्म उपासना से इस उपासना का भाव भेद दिखाता है और मूला प्रकृति ही तो जगत् प्रसविनी मा है। परन्तु हमें तो मातृ उपासना को प्रकृत उपासना कहना अधिक रुचता है। कारण? विश्व ब्रह्माण्ड के आदि स्रोत को मा मानने से बढ़कर स्वाभाविक वा प्रकृत और कौन-सा भाव हो सकता है? इसलिए मातृ-भाव को उसकी उपासना का सहज, स्वाभाविक अतएव प्रकृत भाव क्यों न कहा जाय?

उस परात्पर तत्त्व और हममें यह सम्बन्ध तो है ही कि हम उसके गर्भ में थे, और आज उसी की गोद में खेल रहे हैं। फिर किसी दिन उसके गर्भ में ही समानेवाले तो हैं ही। वह मा है और हम उसकी सन्तान हैं, यह स्वयंसिद्ध शाश्वत् सम्बन्ध है। इसमें हमारी स्वीकृति या सम्मति या मान्यता की अपेक्षा कहाँ? यह सम्बन्ध एकदम निरपेक्ष सम्बन्ध है क्योंकि प्रकृत, सत्य और चिरन्तन है।

किन्तु सम्बन्ध प्रकृत होने पर भी मातृ-उपासना तो साधक की भावना की अपेक्षा रखती ही है। फिर भी प्रकृत उपासना इसलिए है कि जो प्रकृत, सत्य और चिरन्तन सम्बन्ध है, साधक को उसे ही स्वीकार मात्र करना है। किसी कष्ट-कल्पना या दुरूह भाव का आरोप उसको करना नहीं होता। इसलिए यह प्रकृत, सहज और सुमधुर उपासना है।

सहज और सुमधुर भी यह इसलिए है कि वह मा सदा सतत अपलक करुणापूर्ण दृष्टि से अपनी सन्तान को देख रही है और हम जानें या न जानें, मानें या न मानें, हमको कल्याण-पथ पर क्रम-क्रम से बढ़ाने का नित नया आयोजन करती रहती है। प्रकृत जगत् के थोड़े भी सूक्ष्म निरीक्षण से यह तथ्य सहज ही हृदयंगम किया जा सकता है और यही मातृ उपासना का केन्द्र-विन्दु वा आधार शिला भी है।

प्रश्न हो सकता है कि जब मा स्वयं ही हमको कल्याण-पथ पर ले जा रही है तो फिर साधना या उपासना का झमेला क्यों? इसलिये कि मा की प्रेम-भरी थपकियों का अनुभव करते हुए उसे मा कहे बिना रहा नहीं जाता! उसे मा कहकर पुकारने में जो अपार, अनुपमेय, कल्पनातीत आनन्द मिलता है, माता की गोद में खेलते किसी बच्चे को देखकर यह सहज ही समझा जा सकता है।

आँचल के भीतर मा स्तन-पान कराती है। इससे बच्चे को अमृत रस का आनन्द मिलता है। फिर भी क्या वह बीच-बीच में आँचल हटाकर मा की ओर कनखियों से बार-बार झाँके बिना रह पाता है!

प्रेम प्रतिदान मा नहीं चाहती; उसका प्रेम जाह्नवी की अजस्र धारा की तरह उत्तुंग हिम-शृङ्ग से अपने आप झरता रहता है; वह प्रतिदान-आपेक्ष नहीं। किन्तु प्रतिदान दिये बिना हमारा चित्त तो प्रफुल्लित हो नहीं पाता है।

हमारी कल्याण-साधना तो वह करती ही है और करती ही रहेगी परन्तु हमारा अ-सुख तो मा पुकारे बिना मिटनेवाला नहीं है। प्रतिदान दिये बिना हम आनन्दित जो नहीं हो सकते। 'प्रेम' ही तो आनन्द है। इसलिए वह आनन्दमयी प्रेमरूपिणी है। उपनिषदों में ब्रह्म का एक वर्णन परम प्रेमरूप से हुआ भी है। यह मातृ-भाव से उसकी उपासना और कुछ नहीं केवल 'हम उसकी सन्तान हैं', इस सत्य सम्बन्ध की भावमयी अनुभूति का सहज विकास या विलास है, जिसके कारण हमारा आनन्द हृदय-सरोवर से उमड़कर हमारे अभाव-अभियोगों के मनस्तापों को बहा ले जाता है।

यह एक बात।

दूसरी बात यह कि मातृ-भाव की स्वीकृति से हमारी प्रगति की प्रेरणा-शक्ति दुगुनी हो जाती है। पहले उसकी ओर से ही आकर्षण था, मातृ-उपासक बनकर हम अपना आकर्षण भी उसमें जोड़ देते हैं। इस प्रकार हमारी ऊर्ध्व गति बढ़ जायगी, यह सहज ही समझा जा सकता है।

परन्तु यह दूसरी बात तो गौण है। हमारी मा हमारी कल्याण-साधना कर रही है, इस भावना में मधुर आनन्द और निर्भय-निश्चिन्तता का जो अनुभव होता है, उससे बढ़कर और चाहिए क्या!

लौकिक हो वा पारमार्थिक, भौतिक हो वा आध्यात्मिक सब साधनों का लक्ष्य तो इतना ही है न कि क्लेशों का अन्त हो और आत्यन्तिक अनवच्छिन्न आनन्द की अनुभूति होने लगे! वह मा है और हम उसकी सन्तान हैं, इस भाव के आरम्भ से ही अभिनव आनन्द की अनुभूति होने लगती है और जितना ही इस भाव का रंग जमता जाता है, उतना ही आनन्द की मस्ती भी चढ़ती जाती है। सांसारिक अभाव-अभियोगों के डङ्क का विष उसके लिए दिनों दिन उतना ही शक्ति-हीन होता जाता है।

मातृ-उपासना का यही परम प्रसाद है। यह प्रसाद ऐसा है, जो हर किसी को चाहने मात्र से मिल सकता है। जरूरत है मातृ भावना के रस-सागर में डुबकी लगाने मात्र की। परन्तु जो डुबकी लगाने से डरते हों, वे भी आचमन मात्र से उसका रसास्वाद तो ले ही सकते हैं। उसको मा कहकर पुकारने की ऐसी महिमा है। तभी तो भक्त कहता है—

तपोनैव कुर्वन् वपु: खेदयामि,
व्रजन्नापि तीर्थान् पदे खंजयामि।
पठन्नापि वेदान् जनिं यापयामि,
त्वदङ्घ्रिद्वयं मंगलं साधयामि॥

मैं तो केवल तुम्हारे पाद-पद्मों की साधना करना जानता हूँ—जप, तप, तीर्थ, व्रत और वेदाध्ययन क्या जानूँ!

अथवा श्री रामप्रसाद सेन के शब्दों में—

'पतित पावनि तारा,
ओ मा केवल तोमारि नामरि सारा।'

ऐसा क्यों न हो, जब मा स्वयं ही हमारे योगक्षेम के लिए पहले से ही सब कुछ सजाकर धरती रहती है। इतना न जानने और न मानने से ही मनुष्य जीवन वरदान होकर भी आज घोरतर अभिशाप बन रहा है। उसके प्रति कृतज्ञ बनने भर की जरूरत है, नहीं तो मातृ-उपासना में प्रयत्नपूर्वक साधनों का स्थान कहाँ! बालक की तरह मा के बल का आश्रय रखने की साधना जहाँ मुख्य वा एकमात्र साधना है, वहाँ इस एक भाव साधन के अतिरिक्त अन्य सभी साधन भाररूप बन जाते हैं। सम्भव है, अन्य साधनों के फेर में पड़ने से इस भाव की प्रबलता को धक्का भी लग जाय।

'निरालम्बो लम्बोदरजननि कं यामि शरणम्'

'हे मा, तुमको छोड़ मेरे जैसा निरालम्ब और किसकी शरण जा सकेगा ?'—इस भाव की साधना में जप-तप-अनुष्ठान आदि का स्थान कितना है, कहना कठिन है। ऐसे अनुष्ठानों के बल से जहाँ कुछ सिद्धियाँ पाकर श्रद्धा और विश्वास बढ़ते हैं, वहाँ अपने प्रयास की शक्ति में भी विश्वास—शायद अभिमान भी बढ़ सकता है। उधर मातृ-उपासना का भाव अपने बाहुबल के भरोसे का नितान्त निराकरण किये बिना बन ही नहीं पाता है। श्री रामकृष्ण परमहंस के शब्दों में, मातृ-उपासक में होनी चाहिये बिल्ली के बच्चे की वृत्ति। उसका सारा बल है 'म्यों म्यों' के करुण क्रन्दन में।

'बालानां रोदनं बलम्।'

इस केन्द्रविन्दु को सुदृढ़ करने और इस बाल-भाव की सिद्धि के लिये जो भी सहायक साधन आवश्यक हों, किये जाने चाहिए—न कि किसी अन्य सिद्धि के लिए। एक भावुक ने कहा—जप, न्यास, व्रत, उपवास आदि के साधन शास्त्रों में लिखे हैं पुरुषार्थ और साधनों की निरर्थकता सिद्ध कर साधक को एकान्त शरणापन्न बनाने के लिए। यह भी एक बात है। जब तक सब बल लगाकर मनुष्य हार नहीं जाता तब तक सच्चा बाल-भाव आता नहीं और उसका बल तो उसे ही मिलता है, जो सब ओर से हारा हो!

मातृ-उपासना में ऐसी स्वाभाविकता, मधुरता और निर्भय निश्चिन्तता है। विधि-निषेधमय क्रिया-कलाप और कठोर साधनों की अनिवार्यता यहाँ है नहीं। आवश्यकता है येन-केन-प्रकारेण अपने को उसके हाथों में निरन्तर छोड़े रहने की!

मातृ-उपासना में भय का स्थान भी नहीं है। वह तो स्वयं ही 'मा भैः मा भैः' का नित्य निर्घोष कर रही है—तब डर काहे का ? फिर भी मा यदि कभी क्रोध प्रदर्शित करे तो बच्चे के लिए उसके आँचल को और भी जोर से पकड़ रखने के अतिरिक्त दूसरा उपाय

क्या है ! भय वहाँ आता है, जहाँ अपना बल फलतः अपना कर्तव्याकर्तव्य और स्वाभिमान हो।

यह कहना शायद अयुक्त नहीं होगा कि जगन्मयी की उपासना की स्पष्टतः दो धाराएँ हो गई हैं, जो एक साथ बहने पर भी बहुत दूर तक अपने रंगों से पहचानी जा सकती हैं। एक वह है, जिसकी ऊपर चर्चा हुई है और दूसरी वह जिसमें हम शक्ति-साधन करते हैं। मन में होता है इस दूसरी साधना में हम जितनी सिद्धि प्राप्त करेंगे, हमारी शक्ति अतएव हमारा कर्तव्य-भार उतना ही बढ़ता जायगा और फलस्वरूप विधि-निषेध और कर्तव्याकर्तव्य का भय भी बढ़ता ही रहेगा। इस भय से छुटकारा तो तभी मिल सकता है जब उसके हाथों में अपने को सोलह आने सौंपा जा सके! मातृ-उपासक की यह भावना होती है कि 'हमारे लिये क्या कल्याणकर है' जब यही हम निश्चय पूर्वक नहीं जान पा सकते। तब हम कौन सी सिद्धि उससे माँगें ? अपने को उसके ही हाथों में पूर्णतः सौंपकर उस पर ही पूरा उत्तरदायित्व क्यों न डाल दिया जाय ? इसका मतलब यह नहीं है कि मातृ-उपासना तब तक हो ही नहीं सकती जब तक हम पूर्ण निष्काम न बनें। नहीं, शर्त इतनी कि जो भी हमारी कामना है, उसके पूरा करने या न करने का भार उस पर छोड़ते हुये अपने मनोभावों को उसके आगे खोलकर रख दें। सब रसरिस, आग्रह और रुदन उससे ही। मा से अपने मन की बात न कही जायगी तो किससे ? क्योंकि मा के आगे निष्काम भाव का अभिमान वा आग्रह भी कैसा ! वह इच्छामयी ही जब स्वयं हृदय में बैठी है तो कामनाजयी कौन बन सकता है ? इसलिये निष्काम और सकाम का यह झमेला मातृ-उपासना में उठता ही नहीं।

इस भाव की सिद्धि के लिये नाम, रूप, विधि-विधान की कैद नहीं। उस एक जगज्जननी के ही तो सब नाम, रूप और भाव-

पेः हैं। भक्त को जब जो रुचे। केवल भेद-बुद्धि न आने पावे। उसे दश महाविद्याओं और नाना अवतारों के रूप में ही नहीं, द्वीप-द्वीपान्तरों में भी जिन नाम-रूपों से वह पूजित और वन्दित होती है, उन सबमें भी उसे देखने का अभ्यास करना होगा; और एक-न-एक दिन उसको गृह गृह में विराजनेवाली नारायणीरूप से भी पहचानना ही होगा। इसलिये अपनी नौका के पतवार आज से ही उस परविन्दु की ओर साध कर क्यों न यह प्रार्थना अपने अन्तरतम प्रदेश से सदा उठने दी जाय —

सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते।
भयेभ्यस्त्राहि णो देवि दुर्गे देवि नमोऽस्तुते॥

मातृ-भाव की साधना में सब नाम-रूपों में उस एक की ही झाँकी देखने का अभ्यास करना ही होगा—चाहे वह सौ जन्मों में हो। सौ जन्म भी लगें तो हर्ज क्या, मा की ही गोद तो है !

मन में होता है कि जब विशिष्ट सिद्धि चाहिये तब विशिष्ट पथ, विशिष्ट ध्यान, मन्त्र, उपचार आदि के अनुष्ठानों की जरूरत पड़ सकती है। परन्तु जहाँ मा को पहचानने की एकमात्र साध हो, वहाँ विशिष्ट नाम रूप मन्त्र-उपचार का बहुत आग्रह बाधक भी बन सकता है। उसे पाना या उस तक पहुँचना नहीं है क्योंकि वह तो सतत हमें अपनी गोद में लिये हुये है; केवल हम उसे पहचान नहीं पाते और उसका स्मरण भी नहीं रखते। मा है और हम सतत उसकी गोद में हैं, इसकी याद सदा बनी रहे और हम उसे पहचान सकें—इतने भर को साधना ही तो चाहिये। गायत्री मन्त्र में प्रार्थना होती है कि हम उसे जानें और वह हमारी बुद्धि को प्रेरित करती रहे। इसमें से पहली प्रार्थना जहाँ वास्तविक है वहाँ दूसरा भाग आत्म-समर्पण की भावना मात्र है। क्योंकि वही तो बुद्धि-रूप से भूतमात्र के हृद्देश में विराज रही है। वह

हमारी बुद्धि को तो नित प्रेरित करती ही है—तब इस प्रकार प्रार्थना करने से हमारा अहंकार घटता है और साभिमान कर्म का बन्धन भी छूटता है। और जब सचमुच में यह अनुभव होने लगे कि बुद्धि उसकी ही इच्छा को प्रतिबिम्बित कर रही है तब सब संशयों का निराकरण स्वयमेव क्यों न होगा ?

मातृ उपासना में अनन्यता तो होनी ही चाहिये क्योंकि यह उपासना उसकी है, जिसके बारे में कहा है—

'परा पराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी।'

और यहाँ अनन्यता तो स्वयमेव आती है। मा सब कुछ कर सकती है और हमारे लिये परम कल्याण का पथ स्वयं खोल रही है, यह भाव जहाँ हो, वहाँ दूसरे की ओर ताका-झाँका क्यों जाय ? उससे परदा भी नहीं है;—वह ठहरी अन्तर्यामिनी, घट-घट-वासिनी। अपनी छोटी-से-छोटी और बड़ा-से-बड़ी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिये दूसरे किसी से कहने की जरूरत ही क्या, जब मन में यह भावना-लहरी खेल रही हो कि—

'त्वदन्यस्मादिच्छा विषयफललाभेन नियमः
त्वमर्थानामिच्छाऽधिकमपि समर्था वितरणे !'

उस परमा मा को छोड़कर दूसरा कौन है, जो माँगे से भी अधिक दे ? दूसरे तो बहुत प्रसन्न होकर क्षणस्थायी विषय-सामग्री ही दे सकते हैं। वह तो चिर से ही हमारे लिये अमृत-रस तैयार रखे हुए है। हमारी अभिरुचि की प्रतीक्षा मात्र है। ऐसी मा से नि:सङ्कोच होकर सब कुछ कहना ही चाहिये। वह सब कुछ पूरा करनेवाली है पर यह देखकर कि हमारे लिये वह हितकर तो होगा। मा हठ करने पर भी अहितकर वस्तु कैसे देगी ? इसलिये भिन्न-भिन्न कामनाओं के लिये भिन्न भिन्न देवताओं के आराधन या स्वयं इष्ट-

देवता के ही भिन्न भिन्न प्रयोगों की मातृ-उपासक को जरूरत क्या ! उससे निवेदन करना मात्र ही यथेष्ट क्यों न हो !

तब एक बात है, ऐसी भावना में कभी कभी आत्म-प्रवंचना, आलस्य वा आरामतलबी भी हो सकती है। परन्तु खतरे से खाली पथ कौन है ? ढोंग ही हो तो ऐसे भाव का, जो किसी दिन सत्य बनकर पथिक को परम कल्याण पथ पर पहुँचा ही कर रहेगा। इसीलिये कहा है—

भाव कुभाव अनख आलस हूँ।
नाम जपत मङ्गल दिसि दसहूँ ॥

उसकी उपासना में बाह्य उपचार चाहिये तो बाह्य उपचारों के बिना भी वह प्रसन्न होनेवाली है। जब उपासक को जो जँचे। जो व्यक्ति राजमुकुट धारण करना चाहता है, वह मा को मुकुट कैसे अर्पित नहीं करेगा परन्तु जो व्यक्ति जन-जन के दुःख-दैन्य के यत्किंचित् निराकरण की कामना से अपना समय, शक्ति और साधन यथासाध्य उसमें लगाना चाहता है, उस व्यक्ति की यह भावना ही क्या मा की महापूजा के रूप में परिणत न होगी ! वह तो अपना योग क्षेम मात्र चाहता हुआ स्वकर्म से अपने भावानुसार उसकी निरन्तर अर्चना करता ही रहता है। स्वयं भगवान् का वचन है—

'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥'

जरूरत इतनी है कि हम अपने जीवन की बागडोर को मा के हाथों में सौंप दें और बराबर यह याद रखने की चेष्टा में रहें कि यह शरीर उसका दिया हुआ उसके लिये है, हमारा और हमारे भोगविलास के लिये नहीं। भले ही यह भाव बीच-बीच में भूलता रहे। फिर फिर इस विन्दु पर लाकर उसे सुदृढ़ करते रहना

चाहिये और दैनिक जीवन में घट-घट-वासिनी मा की झाँकी कण-कण में देखने की चेष्टा होती रहे। आखिर जन्म से लेकर मरणपर्यन्त कितनों की सेवा, कितनों की सहायता और कितनों की सामग्री हम पा चुके हैं और पाते रहेंगे। यह सब उसका ही दान तो है। इसका प्रतिदान तो किसी रूप में यथाशक्ति इस शरीर को देना ही चाहिये न? मा की सन्तानों की सेवा ही तो उसके दानों का प्रतिदान है। हाँ, तब यह भी है कि उसकी उपासना में अपनी भावभक्ति की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति का स्थान न हो तो रस सूख जा सकता है। इसलिये मा की साकार उपासना में अपने भावानुकूल बाहरी उपचार भी आप-से-आप होते ही रहेंगे।

एक बात और मन में समय समय पर उठती रहती है कि मा का प्रसाद पाने की हमारी अभिलाषा में दूसरों के प्रति किसी प्रकार के द्वेष दुष्ट भाव का मलस्पर्श नहीं होना चाहिये। क्योंकि वह मा एक हमारी ही जननी नहीं सबकी भूत मात्र की अपनी मा है। वह सदा मुक्त-हस्त से वरदान देने के लिये तैयार रहती है परन्तु उसकी इस मार्मिक वाणी को भूलना नहीं होगा—

'वरदाहं सुरगणा वरं यं मनसेच्छथ।
तं वृणुध्वं प्रयच्छामि जगतामुपकारकम्॥'

'मैं तो सदा वर देने को तैयार बैठी हूँ। माँगो, जो मन में हो; पर हो वह जगत का उपकारक वर।'

देवताओं की तरह उसका ऐसा प्रत्यक्ष दर्शन और वर पाने के लिये हमारी भावना भी देवताओं की भावना के अनुरूप होनी ही चाहिये —

'पापानि सर्वजगतां प्रशमं नयाशु!'

'हे मा, सारे जगत् के पापों का शमन करना !' ऐसी प्रार्थना करते हुये क्या अपने अन्तःकरण में द्वेष और प्रतिहिंसा की भावना रखी जा सकती है ! और कदाचित् रह भी जाय तो मा उसका शमन किये बिना रहेगी कैसे ! उसके शमन हुये बिना हम क्या उसके सन्तान कहलाने योग्य हो सकेंगे !

अब जहाँ ऐसी भावना हो, वहाँ लौकिक लाभों के लिये षट्कर्मों की कथा क्या !

हम लोग हृदय के इतने छोटे, इतने संकुचित् क्यों बनते हैं ! क्या डर लगता है कि उसका खजाना चुक जायगा ! आज दुनियाँ में मनुष्य के लिये क्या नहीं है—नहीं है तो हृदय की उदारता, महानता और मनुष्य की मनुष्य के लिये सहानुभूति ! इसीलिये तो यह शस्य श्यामला वसुन्धरा आज नर-रक्त-रंजिता हो रही है !

विपत्तियाँ तो संसार में आती ही हैं, आती ही रहेंगी। यह संसार ही क्रिया और प्रतिक्रियाओं की क्रीड़ाभूमि ठहरी। दुःख में कातर होना तो स्वाभाविक है परन्तु उसके लिये किसी को दोष क्यों दिया जाय ! फिर मा की अकृपा का प्रश्न ही मन में कैसे आने दिया जा सकता है ! न वह क्रोध करती है, और न कभी वह जाँचती है। उसके यत्किंचित् भी रोष या आँच में, त्रैलोक्य में कौन है, जो ठहर सके ! वह और परीक्षा ले हम जैसे दुर्बल अबोध बालकों की ! यह उद्दण्ड अभिमान की दुष्कल्पना मात्र ही हो सकती है। हमारी अपनी इच्छायें और भावनायें ही हमारी परिस्थितियाँ पैदा करती हैं। शायद यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि जिस परिस्थिति में हम हैं, वह हमको इसीलिये मिली है कि हमारे लिये अन्तर वेदना और हृदय-मन्थन-द्वारा अपनी कमजोरियों को देखने एवं उनके ऊपर उठने का सुअवसर एवं सुविधा देनेवाला सबसे सुन्दर और अनुकूल सोपान भी वही

है। और शायद वह इसलिये भी मिली है कि कभी किसी असावधान मुहूर्त में हमने ऐसे कामना बीजों को भावजगत् के उर्वर क्षेत्रों में बेसमझे बिखेरा था कि जिनका अंकुरित होना, बढ़ना फूलना और फलना उपस्थित परिस्थितिरूपी ऋतु में ही सम्भव था। पता नहीं यह कामना बीज ही क्या रक्तबीज के वे रक्तबिन्दु हैं, जिनका संहार करने के लिये स्वयं मा को चामुण्डा बनकर अपनी जिह्वा का विस्तार करना पड़ता है।

इसीलिये तो यह प्रार्थना है कि 'हे मा, तू ही हमारी बुद्धि को प्रेरित कर! इसी में हम सुरक्षित, निभय एवं निश्चिन्त रह सकते हैं। नहीं तो किस दिशा से कौन सा भय, कब आकर पकड़ेगा, इसका ठिकाना वा प्रतिकार ही क्या! प्रतिकार तो ज्ञात का ही सम्भव है। अज्ञात भय का प्रतिकार तो उसके पादपद्मों पर माथा रखकर सो जाने में ही है।

मन की दो धारायें हैं, एक ऊर्ध्वगामिनी दूसरी अधोमुखी। अधोमुखीधारा मनुष्य को वासना-जाल में गिरानेवाली है। यही सामान्य प्रवृत्ति है। क्योंकि जगत् जाल का फैलाव ही इस अधोमुखीधारा से हुआ है। ऊर्ध्वगामिनी धारा मनुष्य को वासना-जाल से छुड़ाकर मा की आनन्दमयी गोद का प्रत्यक्षानुभव कराती है। जगत् प्रपञ्च भी मा की गोद में ही है परन्तु जब मन उस ओर गिरता है तो मा की गोद की सुध रहती नहीं है। इसलिये मा के चरणों में बारम्बार अपने को डालते रहने मात्र की जरूरत है। शेष उनकी अशेष करुणा और अपरिमेय शक्ति से अपने आप साधित होनेवाला है। बस, इतना सी श्रद्धा चाहिये। सो भी वही है। इसलिये यह प्रार्थना है कि—

या देवी सवभूतेषु श्रद्धारूपेण सस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥

न तो कोई बड़ा है, न कोई छोटा; बस जिसको जिस रूप में वह

रखे। सब एक ही परमपद के पथिक हैं, पथ भले ही अलग अलग देख पड़ें। आगे पीछे सब उस परम पद पर पहुँचकर ही रहनेवाले हैं क्योंकि सब पथों का अन्त तो उस 'परविन्दु' में ही है। तब जो उसके शरणापन्न होता है, उसको मानो वह स्वयं आगे बढ़कर गोद में उठा लेती है। जो बच्चा ठोकर खाकर गिर जाता है या रास्ते में हार कर रोने लगता है, मा उसको तुरन्त दौड़कर गोद में ले लेती है। शायद कुछ ऐसी ही बात उस जगन्मयी और शरणापन्न सन्तान के साथ भी होती है। पीछे कोई छूटनेवाला नहीं है। केवल अपनी ओर से इतनी अनुमति और ऐसा आत्म-समर्पण चाहिये कि उसकी शक्ति अबाध रूप से हृदय-क्षेत्र में कार्य कर सके। अपनी इच्छा वा धारणा वा आग्रह का व्यवधान भर हटा देना है। मा से बढ़कर हितैषी भी कोई दूसरा मिल सकता है? और वह मा ठहरी सब कुछ जाननेवाली, सब कुछ करनेवाली! फिर अपरिमेय चिन्ता का दुर्वह भार किसलिये ढोना चाहिये? जिस प्रकार प्रकृति की शक्ति से प्राणी मात्र के स्थूल देह का सृजन, गठन, पोषण, वर्धन एवं धारण होता है उसी प्रकार प्राण, बुद्धि और आत्मा का भी अपने आप होता है, इसमें सन्देह क्यों वा कैसे किया जाय? जैसे पलकों का पर्दा उठाने मात्र से स्वयमेव बाहरी दृश्य दिखाई देने लगते हैं कुछ भी चेष्टा वा बल लगाने की जरूरत नहीं पड़ती (उल्टा बल लगाने से दृश्य धुंधला पड़ने लगता है, आँखें थकने लगती हैं) जैसे शरीर और मन को ढीला करने मात्र से नींद और उसके साथ साथ शक्ति का संचार सारे देह में अपने आप होने लगता है (और बलपूर्वक बुलाने से नींद भाग खड़ी होती है); उसी प्रकार, मन में होता है, अपने आग्रहों को छोड़ने मात्र की आवश्यकता है, बाकी सब उसकी ओर से स्वयं हो जानेवाला है। सब रहस्य अपने समय पर अपने आप खुल जाते हैं; आगे आगे का मार्ग स्वयं दीखने लगता है और जैसे जैसे ऊँचे चढ़ते

जाते हैं, वैसे वैसे और भी ऊँचा चढ़ने का बल पैर में स्वयमेव आता जाता है।

इसीलिए भगवान् का आदेश है—संसार की संघर्षभूमि में लड़ना तो पड़ेगा ही तब बिना घबड़ाये, बिना भयभीत हुए, बिना उतावली मचाये बढ़ते जाओ—

'निराशी निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः।'

इसीलिए संकल्प-शक्ति के बढ़ाने की बात कुछ उल्टी ही लगती है। अपने बल से कुछ सिद्ध करने की बात जहाँ हो, वहाँ संकल्प-शक्ति बढ़ाने की बात हो सकती है। परन्तु इस जगत् में अपने बल से कौन बलवान् बन सका है? स्थूल भौतिक जगत् हो अथवा आन्तर मानस वा अध्यात्म जगत्, घटनाएँ उसी एक प्रकृति की शक्ति से ही घटती हैं। तब वह है कल्पलतिका। जो भी भाव-तरंगें मानस जगत् में उठती हैं, वे अपने को चरितार्थ करके ही रहती हैं। जरूरत इस बात की नहीं है कि हम शक्तिसंचय करें। जरूरत इतनी भर है कि हम मन, चित्त, बुद्धि और वाणी को निर्मल और सात्विक बनायें! यह इसलिए कि कहीं हम अपनी अशुभ-भावनाओं के आप ही शिकार न बन बैठें। इसलिए अहर्निश यह प्राचीन प्राथना हृदय के अन्तरतम प्रदेश से उठती रहे—

'तव चरणेऽहं पतितो नित्यं।
कुरु मम चेतसि शोभन कृत्यम्॥'

लोग पूछते हैं, 'मा, देगी क्या?' मन में पूछने की इच्छा होती है, 'तुम चाहते क्या हो?'

दुनियाँ के साथ एक बड़ा रोग यह लगा है कि दुःख-दुःख का आर्तनाद करते हुए भी लोग सुख नहीं चाहते हैं; सामग्री चाहते हैं। मानो सामग्री ही सुख है। परिणाम में सामग्री जितनी बढ़ती जाती है

दुःख-दैन्य, अभाव-अभियोग भी उतने ही बढ़ते जाते हैं। इसलिए कि खोज सुख-शान्ति की नहीं है; माँग सामग्रियों की है।

मा की आराधना का परम प्रसाद आनन्द है। क्योंकि वह स्वयं ही परमानन्दमयी, परमानन्दरूपिणी और परमानन्दमूला है। वास्तव में मातृ-उपासना अनिर्वचनीय आनन्द की साधना ही तो है। विषय-विष से विषाक्त इस संघर्षमय संसार में यदि तीनों तरह के तापों का शमन चाहिए तो मा आनन्दमयी के चरणाम्बुजों के अमृत-रस के आस्वादन में मन को लगाने भर की ज़रूरत है। फिर तो सब पाप, सब ताप और सब ज्वर आप से ही शान्त हो जायँगे !

'वसन्ते सानन्दे कुसुमितलताभिः परिवृते,
स्फुरन्नानापद्मे सरसि कलहंसालिसुभगे।
सखीभिः खेलन्तीं मलयपवनान्दोलितजले,
स्मरेद् यः 'तां' तस्य ज्वरजनितपीड़ा अपसरति !!'

तथास्तु !

'मा विराजे घरे घरे !

* * *

नारी मात्रे भावो शक्ति, शुद्ध मने करो भक्ति।
'प्रसाद' बोले एई युक्ति, भैरव भाविवे नरे !!'

—भक्तप्रवर कविरंजन श्री रामप्रसाद सेन

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८ १३	दृढ़	छठ
,, १५	सन	सम
११ २१	कब	कब क्या
१३ १५	दुख	दारुण
,, १७	बोधि	बेधि
१६ २६	एतत्त्वधा	एतत्त्त्वधा
१८ १०	यस्यां जागर्ति	यस्यां जाग्रति
२३ १८	घटनी	घटना
२६ २०	त्वच्चेत्	त्वच्चेतो
३६ २६	खीर	खीरा
४० १६	अपने रूप	अपने सूक्ष्म रूप
,, २१	और वस्तुएँ	वस्तुएँ और
४५ २५	वाक्य में ही	वाक्य में मन ही
५४ १०	पालिनी	वासिनी
५६ २५	आदि	वारि
६१ १६	दुग्ध, मदिरा,	दुग्ध, मिश्री,
६२ १२	विश्वनाथ	विश्वनाथ की
६४ ६	अर्द्धांगांग	अर्द्धाङ्ग

३ २१ 'सबसे प्रसिद्ध' के बाद जोड़िये--'वर्णन जो श्रुति ने किया है, वह है सत् चित् आनन्द ।'

१३ १८ वीं पंक्ति ऐसे पढ़ें—'है श्रुति विदित उपाय सकल सुर केहि-केहि दीन निहोरै ।'

३० ६ वीं पंक्ति के बाद उद्धृत पद का शुद्ध रूप यह है—

नहिं कुछ चिन्ता उन्हें, गहें जो मातृचरण सुकुमार ।
परमानन्दमयी के सुत हो, क्यों सहिये तप-भार ॥

मुद्रक--श्री बाँकेलाल शर्मा, इलाहाबाद प्रिंटिंग प्रेस, इलाहाबाद

हमारे अन्य प्रकाशन

१—श्रीश्यामासपर्यावासना—प्रातःकृत्य से लेकर समस्त अर्चन-विधान के एक-एक अंग का दार्शनिक विवेचन। शाक्त-साधना की वैज्ञानिकता प्रकट करने में यह एक ही पुस्तक है। मूल्य २)।

२—श्रीतारास्वरूपतत्त्व—भगवती तारिणी के रहस्यमय ध्यान का भाव जानना हो तो इसे पढ़िये। साथ ही ताराकर्पूरस्तोत्र की विस्तृत व्याख्या मूल और टीका-सहित दी गई है, जिससे शक्ति साधना पर भरपूर प्रकाश पड़ता है। मूल्य १)।

३—हिन्दी शाक्तानन्दतरंगिणी—स्वामी ब्रह्मानन्द की इसी नाम की संस्कृत पुस्तक का सुसम्पादित संक्षिप्त हिन्दी-संस्करण। शाक्तों के धार्मिक सिद्धान्तों का परिचय देने में यह अपूर्व है। मूल्य २)।

४—श्रीकाली-नित्यार्चन—अर्गला, कीलक, कवच आदि स्तोत्रों सहित साधकोपयोगी अमूल्य पुस्तक। मूल्य २)।

५—मन्त्रसिद्धि का उपाय—मन्त्रसाधना की समस्त गुत्थियों को सुलझाने में यह पुस्तक एक ही है। थोड़े में सभी रहस्य स्पष्ट कर दिये गये हैं। मन्त्रसाधना में सफलता प्राप्त करने के इच्छुकों के लिए यह अत्युपयोगी है। मूल्य १)।

६—आनन्दलहरी—टीका और विस्तृत व्याख्या-सहित श्री शंकराचार्य-कृत प्रसिद्ध स्तोत्र। रहस्य की सम्पूर्ण बातों का विशद उद्घाटन। मूल्य १।)।

७—साधक का संवाद—उपन्यास और कहानी का सरस मनोरंजन प्राप्त करते हुए शाक्त-धर्म के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करिये। रोचकता में यह पुस्तक अपूर्व है। स्थान-स्थान पर आप निश्चय ही खिलखिलाकर हँस पड़ेंगे। शाक्तों के गुप्त विधानों का परिचय आपको अलग मिलेगा। मूल्य ३॥)। सजिल्द ४)।

८—वाममार्ग—नाम से भड़कनेवाले लोगों का समाधान करने

में यह पुस्तक सर्वथा समर्थ है। मार्ग की प्रायः सभी मुख्य बातों की विवेचना करते हुए उसकी उत्तमता सिद्ध की गई है। रहस्यात्मक बातों का भी स्पष्ट वर्णन इसमें किया गया है। मूल्य १॥) ।

९—**चक्रपूजा**—शाक्तों की रहस्यपूर्ण निशापूजा का सविधान स्पष्ट और क्रमपूर्वक वर्णन। साधकों के लिए यह अति सहायक और उपयोगी है। मूल्य १॥) ।

१०—**चक्रपूजा के स्तोत्र**—गुरुस्तोत्र, पात्र-वंदनास्तोत्र, शक्तिस्तव, उल्लासस्तवन, शान्तिस्तोत्र आदि अलभ्य स्तोत्र पहली बार इस पुस्तिका में संग्रहीत हुए हैं। मूल्य ।=) ।

११—**काली-स्वरूप तत्त्व**—भगवती काली के रोमांचक स्वरूप का रहस्य इससे जानिये। मूल्य ।=) ।

१२—**दुर्गा-सप्तशती**—हिन्दी में सरल सुबोध छन्दों में सप्तशती का शब्दशः अनुवाद। रोचक होने के साथ-साथ भक्तों के नित्यपाठ के लिए उपयुक्त है। मूल्य ॥) ।

१३—**उपदेश-मुक्तावली**—परम पूज्य १०८ बाबा श्री मोतीलालजी महाराज द्वारा रचित दिव्य आरती-पदों का संग्रह। मूल्य ।=) ।

१४—**भैरवोपदेश (गुजराती में)**—मन्त्र, लय, हठ, राज, नाद, ध्यान, भक्ति आदि आदि रहस्यपूर्ण योगों का गुजराती पद्यों में विशद वर्णन। कर्त्ता है परमसिद्ध योगिराज पूज्य बाबा श्री मोतीलालजी महाराज। मूल्य १॥) ।

१५—**हिन्दुओं की पोथी**—आस्तिक हिन्दुओं के लिए 'जेबी पुरोहित'। नित्यकर्म, संध्योपासन, पर्व-पूजन, श्राद्ध आदि सभी प्रमुख धार्मिक कृत्यों का सविधि वर्णन। मूल्य २) ।

पता—कल्याण-मन्दिर, कटरा, प्रयाग

'साधनमाला' के मान्य हितैषी

परम पूज्य १०८ श्री बाबा मोतीलाल जी महाराज, जिनके पुण्य आशीर्वाद के बल पर 'माला' का प्रकाशन हो रहा है।

प्रतिपालक

(१)

दाता-नरेश स्वनाम-धन्य राणा श्री भवानी-सिंह जी महाराज, जिनकी अति उदार सहायता से 'माला' की नींव सुदृढ़ हुई है।

सहायक

(२)

बम्बई के उत्कृष्ट गृहस्थ साधक श्री वनमाली हरगोविन्द पण्ड्या, जो 'माला' को १०१) की वार्षिक सहायता दे रहे हैं।

५०१) देनेवाले 'माला' के प्रतिपालक, ३०१) देनेवाले संरक्षक और १०१) देनेवाले सहायक माने जाते हैं।